उद्देश्य

का संरक्षण तथा प्रसार।

का विवेचन।

। का अनुसंधान।

ान और कला का पर्यालोचन।

ा

१—प्रति वर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२—पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३—पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४—लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया है, उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५—पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७०
संवत् २०२२
अंक ३

वार्षिक मूल्य १०.००
इस अंक का २.५०

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषयसूची

पौराणिकी

विमर्श

समीक्षा

●

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७०] श्रावण, संवत् २०२२ [अंक ३

रत्नाकरजी का उद्धवशतक

[रुद्र काशिकेय]

•

उद्धवशतक के निवेदन में उसकी निर्माणप्रक्रिया के संबंध में स्वयं रत्नाकरजी ने लिखा है कि '४० या ४५ वर्ष हुए जब मैंने दो एक कवित्त उद्धव संबंधी बनाए थे।...प्रोत्साहित होकर मैंने उद्धव विषयक ५-७ कवित्त और बनाए और फिर यह विचार किया कि एक उद्धवशतक की रचना की जाय।... समय समय पर दो एक कवित्त उक्त विषय के बनते रहे। संवत् १९७७ के अंत तक शनैः शनैः उद्धव विषयक ८०-८५ कवित्त बन गए थे।'

इसके आगे रत्नाकरजी ने जो कुछ लिखा है उसका आशय यही है कि सन् १९२० तक ८०-८५ कवित्त बन जाने के बाद सन् १९२१ के आरंभ में ही उनकी चौपतिया चोरी चली गई, जिसमें उद्धव संबंधी कवित्त भी थे। उन्हें 'ज्यौं त्यौं स्मरण कर कर के' रत्नाकरजी ने पुनः लिखा और उन्हीं में '४०-४५ कवित्त उद्धव संबंधी भी स्मरण आए, शेष जाते ही रहे।' उनकी पूर्ति के लिये रत्नाकरजी धीरे धीरे कवित्त बनाने लगे और सन् और १९२९ तक उद्धवशतक की रचना उसके वर्तमान रूप में पूरी हो गई।

रत्नाकरजी का उक्त निवेदन या तो किसी गोपनीयता की प्रवृत्ति का प्रमाण है अथवा आत्मकर्तृत्व की अद्भुत विस्मृति का अनोखा उदाहरण, क्योंकि जैसा उनके निवेदन से प्रकट होता है, उन्हें यह सर्वथा विस्मृत हो गया था कि उनके उद्धवशतक के कवित्तों का धारावाहिक प्रकाशन काशी के साप्ताहिक भारत-जीवन के सन् १८९२ के २६ सितंबर से लेकर १७ नवंबर तक हुआ था। उसके दो एक कवित्त काशी कवि समाज के स्वयं रत्नाकरजी द्वारा संपादित समस्यापूर्ति

संग्रह में भी प्रकाशित हुए थे। यदि उन्हें यह सब याद होता तो तत्तत् स्थानों से उनका पुनः संग्रह सरलतापूर्वक करते हुए अपने समय और श्रम की वे बहुत कुछ बचत कर सकते थे। परंतु उनकी उस विस्मृति अथवा गोपनीयता की वृत्ति ने उन्हें ऐसा न करने दिया। यही कारण है कि उनके 'निवेदन' का आदर करते हुए भी उनकी उस अनोखी विस्मृति को ध्यान में रखकर उद्धवशतक के निर्माण की प्रक्रिया पर स्वतंत्र शोध के आलोक में नए सिरे से विचार किया जाना चाहिए। समय बीतने के साथ ही यह कार्य उत्तरोत्तर कठिन होता हुआ एक दिन असंभव हो जायगा।

शतक का 'बीज' कवित्त

उपलब्ध सामग्री के आधार पर दृढतापूर्वक कहा जा सकता है कि वर्तमान उद्धवशतक के जिस कवित्त की रचना सर्वप्रथम हुई थी वह निम्नलिखित है—

'हाल कहा पूछत[1] बिहाल परीं बाल सबै
बसिकै दिवस द्वै दृगनि देखि जाइयो।[2]
रोग ये बियोग को न कहिबे के जोग ऊधो[3]
सूधो सो सनेह[4] याहि तू न ठहराइयो[5]॥
औसर मिलै औ सिरताज[6] कछु पूछहिं तो[7]
कहियो[8] कछू न हाल[9] देखी सो बताइयो।[10]
आह कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछू
कहिबे को[11] चाहि हिचकी लै रहि जाइयो॥'[12]

१. बूझत।
२. बसि दिन द्वैक देखि दृगनि सिधाइयौ।
३. रोग यह कठिन न ऊधौ कहिबे के जोग।
४. सनेस।
५. ठहराइयौ।
६. सरताज।
७. तौ।
८. कहियौ।
९. दसा।
१०. दिखाइयौ।
११. कौं।
१२. जाइयौ।

पादटिप्पनी में उल्लिखित संशोधनों के साथ वर्तमान उद्धवशतक का मंगलाचरण को छोड़कर यही ६४ संख्यक कवित्त है। यह सर्वप्रथम १८ नवंबर १८८६ ई० के 'भारतजीवन' में रत्नाकरजी के दो अन्य कवित्तों के साथ 'प्रास्त' शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित किया गया था। उस समय रत्नाकरजी २३ वर्षीय तरुण थे और 'धन बिदेस चलि जात' के तथ्य पर चिंतित, अंतस् से देशभक्त परंतु ऊपर से राजनिष्ठा का चोंगा धारण करनेवाले भारतेंदु की परंपरा से पूर्णतया प्रभावित थे—इतने अधिक प्रभावित थे कि अपने काव्याभ्यास का साधन उन्होंने भारतेंदु के सत्य हरिश्चंद्र नाटक को बनाया था। रत्नाकरजी का हरिचंद्र काव्य हरिश्चंद्र नाटक का पद्यात्मक रूपांतर मात्र है।

अपने आजीवन उत्साही कर्मशील व्यक्तित्व के प्रथम यौवन में तरुण रत्नाकर उस दोराहे पर खड़े थे जहाँ एक रास्ता पूर्व की रंगीन कल्पनाओं के भावभरे मायावी मुहल्लों की ओर निकल जाता था और दूसरा पश्चिम से सद्यः आगत नवीन विचारों की पक्की सड़कों की ओर। उन मुहल्लों के प्रत्येक भवन में उस समय भी कहीं 'देव सुखसाज महाराज ब्रजराज आज राधा जू के सदन सिधारे सुनियतु है' की ध्वनि उठती थी तो 'उमिर दराज महराज की बनी रहै' के रूप में उसकी प्रतिध्वनि भी वहीं गूँजने लग जाती थी। उधर उन पक्की सड़कों पर प्रजा के पक्षपातियों और देशभक्तों का जुलूस नरेशों को बंदी बनाए उन्हें वधस्थल की ओर ले जाता दिखाई देता था। देश और नरेश में विशेष प्रश्रय किसे दिया जाय, इस समस्या से भारतीय तरुणों का चित्त जिस समय उद्वेलित हो रहा था कि सन् १८८६ के नवंबर मास में ब्रिटिश राजकुमार अलबर्ट विक्टर भारत आए और १४-१५ जनवरी १८६० दो दिनों काशी में उनके ठहरने का कार्यक्रम बना। राजभक्ति प्रदर्शन के लिये विवश पत्रसंपादकों, व्यापारियों, महाजनों, पंडितों, राजाओं और नवाबों ने उनके स्वागत में अपनी पलकों के पाँवड़े बिछा दिए। परंतु 'ओज पजन कौ' और 'ठाकुर की मधुराई' से भलीभाँति परिचित रत्नाकर ने ठीक उसी भाषाशैली में अलबर्ट विक्टर को उपालंभ देते हुए भारत की दयनीय दशा का वर्णन किया जिसमें कभी ठाकुर ने जैतपुर नरेश पारीछत को चेतावनी दी थी।[१३] उक्त कवित्त के 'बसिकै दिवस द्वै', 'सुधो सो सनेह' और

१३. 'जिस समय बाँदावाले हिम्मतबहादुर गोसाईं ने धोखा देकर महाराज पारीछत को बाँदे बुलाया और महाराज पारीछत तैयार होकर कुछ दूर निकल गए...ठाकुर को महाराज साहब के चले जाने की खबर मिली। वे...तत्काल समझ गए कि महाराजजी वहाँ जाकर या तो मारे जायँगे या

'सिरताज' जैसे शब्दों के सार्थक प्रयोग पर ध्यान देना चाहिए और तब 'दिन द्वैक' और 'सनेस' संशोधन का अर्थ समझना चाहिए। अलबर्ट विक्टर काशी में दो ही दिन तक रुके थे, इस तथ्य के प्रकाश में 'बसिकै दिवस द्वै' का वास्तविक अर्थ देखना चाहिए। इसी प्रकार 'सूधो सो सनेह याहि तू न ठहराइयो' का यह व्यंग्यार्थ बूझना चाहिए कि काशीवासी जो स्नेह प्रदर्शन कर रहे हैं, वह सीधा सादा हार्दिक नहीं है, विवशताजनित है। संशोधन में संदर्भ बदल जाने से ही 'सनेह' का 'सदेस' किया गया है।

'सिरताज' शब्द जो संशोधन में 'सरताज' हो गया है, और भी विचारणीय है। 'रत्नाकर' नामक संग्रह की भूमिका में श्यामसुंदरदासजी ने इस शब्द के संबंध में लिखा है कि 'फारसी के अच्छे पंडित होते हुए भी रत्नाकरजी ने बड़े संयम से काम लिया है, और न तो कहीं कठिन या अप्रचलित फारसी शब्दों का प्रयोग किया है और न कहीं नैसर्गिकता का तिरस्कार ही किया है। गोपियाँ कृष्ण के लिये दो एक बार 'सिरताज' का प्रयोग करती हैं।'

यह सही है कि रत्नाकर के समूचे काव्य साहित्य में 'सिरताज' शब्द का प्रयोग कुल दो बार हुआ है, जिसमें गोपियों ने उसका प्रयोग केवल एक बार इसी स्थल पर किया है। यहाँ उसमें बहुव्रीहि समास है, जिसका अर्थ है, 'सिर पर है ताज जिसके।' परंतु दूसरे स्थल पर इस शब्द का प्रयोग तत्पुरुष में किया गया है जहाँ इसका अर्थ है 'सिर के ताज हैं जो।'[१४] गोपियों द्वारा प्रयुक्त 'सिरताज' में का 'ताज' शब्द वस्तुतः नरेशवाचक अंग्रेजी के 'क्राउन'[१५] शब्द का अनुवाद है।

कैद होंगे।···फौरन घोड़े पर सवार हो मारामार···महाराज से जा मिले और घोड़े से उतरते ही यह सवैया पढ़ा—

कैसे सुचित्त भये निकसौ बिहँसौ बिलसौ हरि दै गलबाहीं।
ये छल छिद्रन की बतियाँ छलतीं छिन एक घरी पल माहीं।
ठाकुर वे जुरि एक भईं रचिहैं परपंच कछू ब्रज माँहीं।
हाल चवाइन को दुहचाल सो लाल तुम्हें या दिखात कि नाहीं॥'

—ठाकुर ठसक, पृ० १०-११

१४. बाजिनि के सिरताज तेज तुरकी औ ताजी।'—कलकाशी, ६० सं० १०७

१५. १८ मार्च १८६१ को वाइसराय कैनिंग ने काशीनरेश को दत्तक लेने का अधिकार देते हुए जो पत्र लिखा था उसका यह वाक्य द्रष्टव्य है—'सो लांग ऐज् योर हाउस इज् लायल टु दी क्राउन' अर्थात् जबतक आपका घराना ताज के प्रति निष्ठावान् रहेगा।

इसी प्रसंग में यह उल्लेख भी मनोरंजक ही होगा कि उसी समय 'भारत जीवन' के २ दिसंबर से लेकर उसके तीन चार अंकों में 'संग्रह' शीर्षक के अंतर्गत 'युवराज कुमार स्वागतं ते' नामक रचना रोला छंदों में प्रकाशित हुई थी। इस कविता की तीन विशेषताएँ थीं। पहली यह कि इसमें नवराष्ट्रीय चेतना अपनी समस्त उग्र निर्भीकता के साथ हिंदी काव्य के इतिहास में पहली बार प्रकट हुई थी। दूसरी विशेषता यह थी कि रचयिता का नाम अंततक प्रयत्नपूर्वक गोपनीय ही रखा गया था और तीसरी यह कि 'शेष अगले अंक में' सूचना के बावजूद उसका प्रकाशन सहसा स्थगित कर दिया गया था।

उधर रत्नाकर के काव्य साहित्य में कवित्त, सवैया, दोहा, बरवा, रोला और छप्पय रचना में उल्लाला कुल छः छंदों का ही प्रयोग हुआ है। इनमें दोहों की संख्या २५ से अधिक नहीं है। जैसा कि उनके प्रकाशन से प्रकट है, वे रत्नाकरजी की अपेक्षाकृत अर्वाचीन रचना हैं अतः अनुमान किया जा सकता है 'बिहारी रत्नाकर' पर काम करते समय प्राप्त प्रेरणा से इन दोहों की रचना हुई थी। सवैया की रचना रत्नाकरजी ने प्रायः समस्यापूर्ति के रूप में ही की थी। फलतः उनकी संख्या भी अपेक्षाकृत अल्प ही है। उल्लाला का प्रयोग सर्गांत में छंद परिवर्तन के नियम का पालन करने के लिये उसे रोला छंद में जोड़कर छप्पय छंद की रचना द्वारा किया गया है अथवा आरंभ में मंगलाचरण के रूप में और 'तुलसी' तथा 'दीपक' जैसी कुछ मुक्तक रचनाओं में। संपूर्ण रत्नाकर साहित्य में कुल तीन बरवा छंद हैं जिनका पाठ काशी कविसमाज के चौथे अधिवेशन में रत्नाकरजी ने समस्यापूर्ति के रूप में किया था। अतः कवित्त और रोला ही ऐसे छंद हैं जिनमें उन्होंने अपने अधिकांश काव्यसाहित्य का निर्माण किया है। ये दोनों छंद उन्हें अतिशय प्रिय भी थे और अत्यंत सिद्ध भी। इन दोनों छंदों के प्रति रत्नाकर के विशेष पक्षपात का प्रमाण यह तथ्य है कि उन्होंने इन दोनों छंदों के रचनाविधान पर 'घनाक्षरी नियम रत्नाकर' और 'रोला छंद के लक्षण' नामक पुस्तकें लिखी थीं जिनमें पहली का प्रकाशन सन् १८९७ ई० में हुआ था और दूसरी नागरीप्रचारिणी पत्रिका के भाग ५ अंक १ में पहले लेख के रूप में प्रकाशित की गई थी और बाद में आवरण पृष्ठ लगाकर उसके फर्मे पुस्तकाकार कर दिए गए थे। अतः संदेह होता है कि 'युवराज कुमार स्वागतं ते' की रचना रत्नाकरजी ने ही की थी। इस संदेह का आधार निश्चित करने के लिये निम्नलिखित पंक्तियों पर विचार करना चाहिये—

स्वागत! स्वागत! चिरजीव युवराज कुँवर वर।[१६]
स्वागत! स्वागत! ब्रिटिश राजवरवंश उजागर।

१६. मिलाइए—'परचौ करेजौ थामि थहरि त्यौं रोइ कुँवर वर।'
—गंगावतरण, सर्ग ५ छंद ११

स्वागत ! स्वागत !! श्री विजयिनि[१७] के प्रान पियारे।
स्वागत प्रिंसेज आफ वेल्स अँखियन के तारे।

× × ×

बढ़ैं बंस परिवार सुजस सुख सदा तिहारो।
कहैं बिधाता एवमस्तु सुनि बचन हमारो।[१८]

× × ×

इन कर सब कछु सेत स्याम[१९] उनके कर माहीं।
तारन बोरनहार वही इनके शक नाहीं॥

× × ×

फिर इन कहँ तुम कुँवर ! सुखित समुझहु केहि भाँती।
जे मन कहं कसमीर[२०] गतिहिं काँपत दिन राती।

× × ×

'हाँ हुजूर' ये करत रहहिं उनके ढिग निस दिन।
जान्यो देख्यो सुन्यो प्रजा दुख सुख इन केहि छिन।
केहि दिन इन निज नगर हाल देखन मन लायो।
कब प्रमुदित ह्वै प्रजन इन्हैं प्रतिनिधि ठहरायो।
फिर ये हिंदुस्थान कहा जानहिं कहँ कैसो ?

× × ×

या तें ह्यां की सैल उचित हमरे सँग माहीं।

यह रचना रत्नाकरजी की है इस संदेह की पुष्टि इसकी पद और भाषा-शैली से होती है। पुनः 'प्रिंसेज आफ वेल्स' जैसे शब्दों का प्रयोग भी रत्नाकरजी

१७. 'विक्टोरिया' शब्द का भारतेंदु कृत अनुवाद।

१८. मिलाइए—'एवमस्तु' कहि कह्यौ बहुरि हरि बिपत बिदारन।

—हरिश्चंद्र काव्य

१९. फारसी मुहावरा 'स्याह सफेद' का अनुवाद।

२०. चोखी कसमीरी कसी कंपित उरोजनि पै।—रत्नाकर, पृ० ४७१, छंद ७

की वृत्ति के मेल में ही है। उन्होंने ब्रजभाषा में अंग्रेजी के 'पेंशन'[२१] और 'वैलर'[२२] जैसे शब्दों का प्रयोग भी किया है। 'सैल' और 'ह्याँ' का प्रयोग भी वैसा ही है। 'सैर' अर्थ में 'सैल' का प्रयोग वाराणसी में व्यापक है और उसका इसी अर्थ में प्रयोग रत्नाकरजी के प्रिय कवि बिहारी ने किया है[२३]। 'ह्याँ' शब्द के प्रयोग में ब्रजभाषा काव्य में कुछ अव्यवस्था सी रही है। 'इस स्थान' के लिये हमारे पुराने कवियों ने 'इतको',[२४] 'इतै'[२५] 'इत'[२६] 'इहाँ'[२७] 'ह्याँ'[२८] और 'यहाँ'[२९] का भी प्रयोग किया है। कुछ कवियों ने तो एक ही छंद में 'इहाँ' और 'ह्याँ' दोनों रूपों का प्रयोग किया है।[३०] रत्नाकरजी के यहाँ भी उक्त दोनों रूप मिलते हैं परंतु अंतिम रूप से उन्होंने 'ह्याँ' रूप ही ग्रहण किया है। वस्तुत: 'ह्याँ' शब्द कन्नौजी का है और ब्रजभाषा में इसका प्रयोग आचार्य शुक्लजी के इस कथन का प्रमाण है कि 'अवधी का प्रभाव कुछ अंशों में ब्रजभाषा पर अवश्य पड़ा।...यह दूसरी बात है कि अवधी की तरह कन्नौजी, बुंदेली आदि का तथा अन्यान्य सीमावर्ती उपभाषाओं का भी यत्किंचित् प्रभाव उसपर पड़ा हो।'

ऐसी स्थिति में उक्त रचना यदि वस्तुतः रत्नाकरजी की है तो यह स्वाभाविक है कि अपना नाम उसके रचयिता के रूप में वे प्रकट न कर सकते थे। पुन: ऐसी उग्र रचना का प्रकाशन सहसा (निश्चय ही सरकारी कोप से) रोक

२१. एतीये नहिं, जब सुकबिनि बरु पिनसिन पाई।—समालोचनादर्श

२२. वैलर बिसद बिसाल काय बलाद बलशाली। कलकाशी।

२३. चलि भलि अलि अभिसार की भई सखौंखै सैल।

२४. लोचन ऐंचि लियो इतको।—केशव

२५. वा द्रिग मूँदि उतै चितई इन भेंटी इतै वृषभानु की जाई।—देव

२६. सो कियो इत आवन भोर ही को।—बेनी प्रवीन

२७. लाल अन्हान इहाँ मत आओ, अन्हाति इहाँ वृषभानु लली है।—नृपशंभु

२८. हरि सों हमारे ह्याँ न फूले बन कुंज हैं।—पद्माकर

२९. आये परवाना पर चलै ना बहाना यहाँ।—ग्वाल

३०. बाग मैं अँध्यारौ बरु लागत है जातैं उत
तातैं हौं कहति इहाँ लोग और नहीं हैं।
कैसे करि जाउँ फूल लैन हौं अकेली ह्याँ तौ
आछे आछे फूलन की बेली फूल रही है॥
—चिंतामणि

दिया जाना भी शायद कालधर्म के विरुद्ध नहीं था। अतः क्या यह नहीं माना जा सकता कि 'कलकाशी' की रचना उसी समय रत्नाकरजी ने इसी वाक्य के संदर्भ में की थी कि 'या तें ह्याँ की सैल उचित हमरे सँग माहीं।' उसी कविता में 'उड़ी करै है' की जगह 'उड्यो करै है धूरि' जैसे व्याकरणविरुद्ध प्रयोग देखकर यह समझ बैठना भूल ही होगी कि रत्नाकरजी जैसे ब्रजभाषा के महापंडित से ऐसी गलती हो ही नहीं सकती क्योंकि उन्होंने ऐसी ही गलती अन्यत्र भी की है, जैसे निम्नलिखित पद में 'मंगलमय' की जगह 'मंगलमयी' का प्रयोग---

'कहै रतनााकर रुचिर रस रंग पाइ
उपवन जंगल ह्वै मंगलमयी उठ्यौ।'

सन् १६३० में 'रहो लंदनेस नंदनेस लौं बिराजे रहौ - ढाल कम ना है कछु मालकम हेली की' जैसी पंक्तियों की विवशतः रचना करनेवाले रत्नाकरजी ने 'युवराज कुमार स्वागतं ते' के रचयिता के रूप में अपना नाम प्रकट नहीं किया। इसके लिये उन्होंने कविसुलभ शैली का सहारा लिया और इसी लिये 'हाल कहा पूछत' वाले कवित्त के साथ उन्होंने दो और कवित्त भी प्रकाशित कराए थे जो निम्नलिखित हैं---

दुख को अहार रह्यो, बारि रह्यो आसन को
सौंसन को शब्द मूर्च्छा की नींद कल तें।
जाति न चिह्नानी ना पिछानति कैहूँ को केहूँ
सेज में समानी जात कृसता कहल तें।
जो पै है बहम तुम्हें जियति है कैसे तो पै
कान दै सुनौ जू हौं बतावति सहल तें॥
प्राण को सकति अधरान लौं न आइबे की
अबला जियति लाल निर्बलता बल तें॥

× × ×

कहै रतनाकर कै चन्द में सुधा को बिंदु
कैधौं अरबिंद में सुहात मकरंद है।
कैधौं काम कारीगर कन धरयो पारद को
दर्पण माँहि दुति दीपति दुचंद है।
कैधौं नकबेसर बिराजति बनकवारी
ज्यौंत ये हमारी मति करति पसंद है।
मोतिन को पानिप पखारि पाय होठिन के
पेखियति प्यारी को सुआनन अमंद है॥

स्मरण रखना चाहिये कि 'सुजलां सुफलाम् शस्य श्यामलां' रूपवाली भारतमाता विषयक कल्पना का उदय आनंदमठ के प्रकाशन से यद्यपि बँगला साहित्य में हो गया था फिर भी बंगाल के बाहर उसका प्रचार नहीं हो पाया था। भारतभूमि को 'नायिका' लिखना दोष न माना जाता था।[३१] अतः रत्नाकरजी की उक्त कल्पना न तो अस्वाभाविक ही थी और न अनुचित ही। फिर 'मोतिन के पानिप पखारि पाय दीठिन के' प्यारी का मुखचंद देखने की बात भारतेंदु के इस कथन के मेल में ही है कि 'करि गुलाब सों आचमन लीजत वाको नाँव।' यदि असाधारण नाम लेने के लिये गुलाब से कुल्ला करना आवश्यक है तो असाधारण रूपदर्शन के लिये आँख के पैरों को मोती के पानी से प्रक्षालित करना अनिवार्य ही है। यहीं यह भी बता देना अप्रासंगिक न होगा कि इनमें से पहला कबित्त तो 'रत्नाकर' में संग्रहीत हो गया परंतु दूसरा उनके किसी संग्रह में नहीं है। अंतः वह रत्नाकरजी की चौपतिया के साथ 'शेष जाते ही रहे' वाले लापता कबित्तों में से एक है।

शतक की प्रथम कल्पना

जैसा कि उक्त विवरण से प्रकट है तबतक रत्नाकरजी के मन में 'उद्धव-शतक' के निर्माण की कोई कल्पना न थी। काशी कविसमाज के एक उत्साही सदस्य के नाते वे उसकी गोष्ठियों में योग देते थे और उसके द्वारा प्रचारित समस्याओं की पूर्ति करते थे। ऐसी पूर्तियों में राधाकृष्ण के साथ ही उद्धव का नाम आना भी अनिवार्य ही था। अतः प्रतीत होता है कि उद्धव नामांकित काफी कबित्तों की रचना कर लेने के बाद रत्नाकरजी ने उनकी संख्या सौ तक पहुँचाकर शतक की रचना का विचार किया।

जैसे मुक्तकों की सतसई परंपरा का मौलिक संबंध प्राकृत से है वैसे ही शतक परंपरा का संस्कृत से। संस्कृत में देवी देवताओं की स्तुति, स्तोत्र के रूप में शतकों का आरंभ उपासना के क्षेत्र में हुआ जिसकी साहित्यिक परिणति वहाँ भर्तृहरि के शतकत्रय और अमरु शतक आदि के रूप में हुई।

३१. ६ जुलाई १८८५ के भारतजीवन में रूस के जार के नाम एक पत्र प्रकाशित हुआ था जिसमें एक वाक्य यह था—'आप रशिया नायिका से तृप्त न होकर इंडिया नायिका के पीछे पड़े हैं।

जिस समय रत्नाकरजी ने शतक रचना का विचार किया उस समय हिंदी में तिल शतक अनेक शतक तो पहले से ही प्रस्तुत थे। उनकी बाल्यावस्था थी जब भारतेंदु ने घनानंद की रचनाएँ संकलित कर 'सुजानशतक' के नाम से प्रकाशित किया था। सन् १८६२ से ६५ के बीच वृंदावन शतक, रघुनाथ शतक, लक्ष्मण शतक, उपालम्भ शतक, देवीस्तुति शतक आदि के विज्ञापन तत्कालीन प्रसिद्ध पत्र 'भारतजीवन' के प्रायः प्रत्येक अंक में प्रकाशित हो रहे थे। फलतः २६ सितंबर सन् १८६२ के भारतजीवन में निम्नलिखित संपादकीय सूचना प्रकाशित हुई—

'हम लोगों ने चिरकाल से कविता छापना बंद कर दिया था किंतु अनेक महाशयों ने पुनः अनुरोध किया अतएव हमने भी यह विचारा कि यह विषय भी थोड़ा बहुत रहे पर जो रहे वह अत्यंत ही रोचक हो। हमारे काशी कविसमाज के एक मुख्य मेम्बर बाबू जगन्नाथप्रसाद बी० ए० उपनाम रत्नाकर कवि हैं ये महाशय अँगरेजी और फारसी विद्या में निपुण होने के अतिरिक्त भाषा कविता में भी अत्यंत दक्षता रखते हैं। इनके बनाए प्रायः छोटे मोटे कई ग्रंथ हैं किंतु वे अभी प्रकाश नहीं हुए क्रमशः छापकर प्रकाश किए जायँगे। इस समय हम लोगों ने यह विचारा है कि इनका रचित जो उद्धव शतक है उसके दो तीन कवित्त प्रायः हर सप्ताह में छापे जायँ। आशा करते हैं कि पाठकगण इनकी अपूर्व कविता देखकर अत्यंत संतुष्ट होंगे।'

उक्त संपादकीय वक्तव्य से अनेक बातों के साथ यह भी प्रकट होता है कि रत्नाकरजी उस समय तक अनेक छोटे मोटे ग्रंथ लिख चुके थे जिनमें से एक उद्धवशतक भी था और उस भारतजीवन प्रेस ही प्रकाशित करनेवाला था। उसने पाँच छः अंकों तक धारावाहिक रूप में उद्धवशतक शीर्षक के अंतर्गत उसके कवित्त प्रकाशित भी किए। उन कवित्तों की संख्या अल्प है तथापि वह इतना बता देने के लिए पर्याप्त है कि नए सिरे से 'उद्धवशतक' की रचना करते समय पूर्वरचित परंतु लापता कवित्त उन्हें किस आधार पर स्मरण आए और उनमें सकारण क्या क्या परिवर्तन और संशोधन हुए। उनके मूल में कौन सी निश्चित प्रक्रिया काम कर रही थी। अवश्य ही यह रत्नाकर साहित्य पर शोध की नई दिशा होगी।

भारतजीवन संपादक श्रीरामकृष्ण वर्मा के उक्त वक्तव्य के साथ ही उद्धवशतक का नाम प्रकट हुआ। तत्कालीन काशीस्थ कविसमाज पर रत्नाकर

जी छा गए थे, यह भी उक्त वक्तव्य से प्रकट है। साथ ही उक्त टिप्पणी निश्चय ही रत्नाकरजी पर प्रथम मुद्रित आलोचना के रूप में भी प्रगृहीत की जा सकती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि उस समय तक हिंदी में समालोचना का सम्यक् विकास नहीं हुआ था, भारतजीवन संपादक के ये वाक्य महत्वपूर्ण हैं; जैसे, 'ये महाशय कविता में भी अत्यंत दक्षता रखते हैं,' 'इनकी कविता देखकर पाठक अत्यंत संतुष्ट होंगे' और 'जो छपे वह अत्यंत रोचक हो।' इन वाक्यों में 'अत्यंत' की आवृत्ति विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि आजतक रत्नाकर साहित्य की जो आलोचनाएँ हुई हैं, उनमें इस 'अत्यंत' से अधिक कुछ नहीं कहा गया है।

भारतजीवन संपादक की उक्त टिप्पणी के साथ निम्नलिखित रंग ढंग से रत्नाकरजी के दो कवित्त प्रकाशित किए गए थे—

'उधवशतक (रत्नाकर कविकृत)

कवित्त।

दूरहिं ते देखि दौर पौरि लगि आई भेंट
आसन दै उत्तम बिठाइ सन्मान तें।
कहै रत्नाकर यों गुनन गुबिन्द लागे
गौर कर जौ लौं जिय विविध विधान तें।
कहा कहै ऊधो सौं कहैं हूँ तो कहाँ लौं कहै
कैसे कहैं, कहैं पुनि कौन सी उठान तें।
तौलौं अधिकाई ते उमगि कंठ आइ भिच
नीर ह्वै बहन लागीं बात अँखियान ते॥
करि अभिलाखे जो सरूप रस चाखे नैन
सोई अब आँसु ह्वै उबरि गिरिबो करैं।
ऊधो सुख संपति समाज ब्रजमंडल के
भलेहूँ भूलन लैं लिये भूलै घिरिबो करैं।
दिनन के फेर ते भयो है हेर फेर ऐसो
जाको हेरि फेर हेरबोई हिरबो[13] करैं।

१२. विज्ञान शास्त्र से यह नियम है कि वायु जब अधिक दबती है तो पानी हो जाती है।

१३. यही हेर फेर है कि जो सरूप रस चाखा सो आँसू ह्वै बहने लगा। जिन कुंजों में हम फिरते थे वे हमारे नेत्रों में फिरने लगे। खोजना जो है वह स्वयं खो जाता है।

फिरत हुते जू जिन कुंजन में आठोजाम
नैनन में अब सोई कुंज फिरिबो कर ॥

'भारतजीवन' के ३ और १० अक्तूबर के अंक उपलब्ध संग्रह में प्राप्त नहीं हो सके अतः यह नहीं बताया जा सकता कि उन अंकों में उद्धवशतक के कौन कौन से और कितने कवित्त थे। पुनः १७ अक्तूबर के अंक में जो कवित्त प्रकाशित हुए थे वे निम्नलिखित हैं—

'गोकुल की गैल गैल गैल गैल ग्वालन के
गोरस के काज लाज बस कै बहाइबो।
कहै रतनाकर रिझाइबो नवेलिन को
गाइबो गवाइबो औ नाचिबो नचाइबो।
कीबो श्रमहार मनुहार कै बिबिध बिध
मोहनी मृदुल मंजु बाँसुरी बजाइबो।
ऊधो सुख संपति समाज बृजमंडल के
भूलें हू न भूलें भूलें हमको भुलाइबो ॥
नंद औ जसोमति के लाड भरे लालन की
प्रेमपगे पालन की याद उपजावती।
गोपी गोप पुंजन की जमुना निकुंजन की
मत्त अलि गुंजन की लालच लगावती।
डगन लग्यो है मन मेरो हू कछूक अब
एसी ऐसी भांतिन सों छाती छोह छावती।
सुधि वृजबासिन दिवैया सुखरासिन की
ऊधो नित हमको बुलावन को आवती ॥
कहत गुपाल माल मंजु मनि पुंजन की
गुंजनि की माल की मिसाल छवि छावै ना।
कहै रतनाकर रतन मैं किरीट अच्छ
मोर पच्छ अच्छ लच्छ समता सुहावै ना ॥
जसुमति मैया की मलैया अरु माखन को
कामधेनु गोरस हूँ गूढ़ गुन पावै ना।
गोकुल की रज के कनूका औ तिनूका सम
संपति त्रिलोक की बिलोकन मैं आवै ना ॥
संपति बिलोकि बृषभान नंदराय जू की
संपति सुरेसहु की लागत भिखारी सो।

कहै रतनाकर सुबृंदावन कुंजनि पै
वारियत कोटि कोटि नंदन की वारी सी।
रज की न जात बात बरनी हमारे जान
आठौ सिद्धि नवौ निधि मग में बगारी सी॥
निरखि निकाई बृजनागरि नवेलिन की
रंभा उरबसी आदि लागति गँवारी सी॥

पुनः २४ अक्तूबर के अंक में निम्नलिखित एक ही कवित्त प्रकाशित हुआ था—

'राधे मुख मंजुल सुधाकर के ध्यान ही ते
प्रेम रत्नाकर हिये यों उमगत है।[३४]
त्यों ही बिरहातप प्रचंडि तें उमडि अति
ऊरध उसास को झकोर यों जगत है।[३५]
खेवट विचार को बिचारो पचि हारि जात
होत गुन पाल ततकाल नभगत है।
करत गंभीर धीर लंगर न काज फेर
मन को जहाज डगि डूबन लगत है॥

तत्पश्चात् ३१ अक्तूबर के अंक में निम्नलिखित दो कवित्त प्रकाशित किए गए थे—

चलत न चारो भाँति कोटिन बिचारो तऊ
दाबि दाबि हारो पै न टारो टसकत है।[३६]
परम गहीली वसुदेव देवकी की मिली
चाह चिमटी हूँ सों न खैंचे खसकत है।
सहिये कहाँ लों कहा कहिये न रंचक हूँ
धीरज मदार दूध धारें[३७] मसकत है।

३४. चंद्रमा को देख समुद्र का उमगना तो स्वाभाविक ही है परंतु यहाँ यह विचित्रता है कि इस मुखचंद्र के ध्यान ही से प्रेम समुद्र उमगता है।

३५. विज्ञान शास्त्र का यह नियम है कि गर्मी से हवा चलती है।

३६. दबाने से काँटा निकल जाता है। पकड़नेवाली मिली से यहाँ यह तात्पर्य है कि जैसे चिमटी में दो भाग होते हैं, इसी प्रकार यहाँ वसुदेव और देवकी की चाह से मिलकर यह चिमटी बनी है, साभिप्राय विशेषण है।

३७. मदार के दूध से भी काटा गल जाता है।

नंद औ जसोमति के लालन को ध्यान धँस्यो
निसदिन काँटे लों करेजे कसकत है ॥

× × ×

उभरन दीजिये कहाँ लों चित चाव नाहिं
करि करि कायल कहाँ लों मन मोजिये।
कहै रतनाकर कछूक दिन और सही
भारी भार भूमि को सहन बरु दीजिये।
वार बार आवत है जिय में विचार यहै
हित अनहित पै न ध्यान कछु दीजिये।
फेर करि लैहैं हमैं जो जो करिबो है सब
अब चलि गोकुल को सुख लहि लीजिये ॥

उद्धवशतक के कवित्त अंतिम बार ७ नवंबर १८९२ के अंक में प्रकाशित हुए —

'डबडबे नैनन तें हेरत मही की ओर
फेरत जबान पपराये अधरान प।
कहै रतनाकर कपोल कर कंपित पैं
धारें टिहुनी कों टेकि थरहरी[१८] रान पैं।
चाहत कह्यो पैं कहि जात बात नेक नाहिं
गरो भरो आवत प्रथम ही उठान पैं।
सोरी भरि साँस हाय करि दुखदाई अति
रहि जात हाथ दाबि हिय हलकान पैं ॥
बिरह बिथान की अनोखी कथा भाषन को
उर अभिलाष भरे अनगनतीन नैं।
कहै रतनाकर गुबिन्द मन छायो पर
पाये बस नाहिं नेक रसना रंगीन नैं।
सबद बिहीन अर्थ जान मनभावनि को
बिगर्यो बनायौ ब्योत बनक नवीन नैं।
नैक कह्यो बैननि अनेक कह्यौ नैननि नै
रह्यौ सह्यौ बाकी कहि दीन्ह्यौ हिचकीन नैं ॥

१८. काँपती हुई जाँघ पर।

इसके पश्चात् 'भारतजीवन' में उद्धवशतक का प्रकाशन सहसा बंद हो गया। संभवतः इसका कारण रत्नाकरजी का काशी कविसमाज से संबंध विच्छेद कर लेना था। उन्होंने संबंधविच्छेद क्यों किया, इसका वास्तविक और प्रामाणिक कारण बताना तो आज अत्यंत कठिन है क्योंकि स्वयं रत्नाकरजी ने उसे प्रकट करना उचित नहीं समझा परंतु सन् १८९७ में प्रकाशित अपने 'घनाक्षरी नियम रत्नाकर' की भूमिका में उन्होंने लिखा कि 'मैंने कई एक कारणों से अपना नाम कविसमाज के सभासदों में से विलग कर लिया है।' ऐसी स्थिति में अनुमान का ही आसरा रह जाता है जो सदा सभी दिशाओं और दशाओं में विश्वस्त नहीं रह जाता।

रत्नाकरजी अभिजात वर्ग के प्राणी थे और कविसमाज की प्रकाशित समस्यापूर्तियों के अवलोकन से पता चलता है कि उस 'समाज' में उसके सदस्य के रूप में एकत्र होनेवाले लोगों में वैसे तो द्विज बेनी जैसे अक्खड़ भी जुटा करते थे,[३१] उनमें कम से कम एक व्यक्ति ऐसा भी था जो छुरेबाजी के आरोप में कारादंड भुगत चुका था। उस युग के 'रईस' ऐसे व्यक्तियों के साथ उठने बैठने में अपमान समझते थे और समाज की दृष्टि में इसे अपने अपयश का सूचक मानते थे। जो हो, किसी न किसी प्रकार की कटुता ही उक्त समाज से रत्नाकरजी के संबंध विच्छेद का कारण बनी थी जिसके फलस्वरूप उद्धवशतक का क्रमिक प्रकाशन रुक गया और रत्नाकरजी को अपनी स्मरण शक्ति से अतिरिक्त काम लेकर शतक की पूर्ति नए सिरे से करनी पड़ी।

उद्धवशतक के क्रमिक प्रकाशन का स्थगन हो जाने से केवल यही हानि नहीं हुई कि आज जहाँ तुलना के लिये हमें 'शतक' के शतप्राय कवित्त मिल जाते वहाँ कठिनता से १-२।। दर्शन मिल पाते हैं, बल्कि इस संदेह के लिये भी आधार खड़ा हो जाता है कि रत्नाकरजी ने पूरा शतक नहीं लिखा था। इतने छंद अवश्य लिख लिए थे जितने जबतक प्रकाशित हों तब तक वे अगले छंदों की रचना कर लें। कहने का तात्पर्य यह कि शतक की छंदसंख्या प्रथम प्रकाशन के समय भले

३१. बचपन में द्विजबेनी के शिष्य रसिकनवीन से सुना था कि एक बार कोई नरेश गोपाल मंदिर की कविगोष्ठी में संमिलित हुए थे। द्विजबेनी की किसी हरकत पर क्रुद्ध होकर उन्होंने तलवार निकाल ली जिसपर बेनी ने उद्दंडता पूर्वक एक कुंडलिया की सद्यः रचना कर सुनाई जिसके अंतिम शब्द ही मुझे याद रह गये हैं—'मातु कहु याको बिधी।'

ही सौ तक न पहुँची हो, परंतु वह ५०-६० से कम भी न थी। स्वयं उन्हीं के कथनानुसार उद्धवशतक संबंधी कवित्तों की बहुलता देखकर ही उनके मन में शतक रचना का विचार उठा था। यह समझ लेने में कठिनाई न होनी चाहिए कि भारतजीवन संपादक का यह कथन कि 'इनका रचित जो उद्धवशतक है' इसी बात का साक्षी है कि किसी न किसी रूप में उद्धवशतक जैसी कोई रचना रत्नाकरजी ने अवश्य प्रस्तुत कर ली थी परंतु वह उनकी चौपतिया में ही रह गई। वह संभवतः छँटाई का क्रम था जिसमें उद्धव संबंधी कवित्त छाँट छाँटकर अलग किए जा रहे थे और उसमें से जो कवित्त छूट जाते थे उनके स्थान पर रत्नाकरजी 'शनैः शनैः' नए छंदों की रचना करते थे। फलतः के जिस मनोवैज्ञानिक कारण से उन्हें 'भारतजीवन' में प्रकाशित उद्धव शतक के कवित्त विस्मृत हो गए थे उस स्थिति में उन्होंने शतक की भूमिका में जो कुछ लिखा है, वही उन्हें स्मरण रह जाना स्वाभाविक था।

'शतक' का पुनर्निर्माण

उद्धवशतक की भूमिका में रत्नाकरजी ने स्पष्ट ही लिखा है कि 'यह विचार किया कि एक उद्धवशतक की रचना की जाय।' इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनका विचार यही था कि उद्धव संबंधी उनके जितने कवित्त हों— सवैया आदि नहीं—उन्हीं का संग्रह करके शतक का पुनर्निर्माण कर दिया जाय, फिर वे कवित्त समस्यापूर्ति के रूप में रचित हों अथवा स्वतंत्र रीति से। फलतः पुनर्निर्माण की इस प्रक्रिया में रत्नाकरजी ने उद्धव संबंधी अपने कुछ पुराने कवित्तों को छाँट दिया और नए कवित्तों की रचना के साथ ही दो एक अपनी पुरानी समस्यापूर्तियों में से लेकर उसमें जोड़ दिया। सन् १८९४ की ५ जुलाई को काशी कविसमाज के बारहवें अधिवेशन में[४०] तीन समस्याओं पर पूर्तियाँ पढ़ी गई थीं जिसमें एक समस्या थी— 'बहार बरषा की है।' इसकी पूर्ति रत्नाकरजी ने निम्नलिखित रूप में की थी –

> रहति सदाई हरियाई हिय घायन मैं
> ऊरध उसास सो झकोर पुरवा की है।
> लागी रहै नैनन सों नीर की झरी औ उठै
> चित मैं चमक सों चमक चपला की है।

४०. रत्नाकर संपादित 'समस्यापूर्ति (प्रथम भाग), पृ० १२०

पीउ पीउ गोपी पोर पूरि पुकारैं नित
सोई रतनाकर पुकार पपिहा की है।
बिन घनस्याम धाम धाम बृजमंडल मैं
ऊधो नित बसति बहार बरषा की है ॥[४१]

अत्यंत साधारण परिवर्तन के साथ यही उद्धवशतक का ८९ संख्यक कवित्त है। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'रत्नाकर' की प्रकीर्ण पद्यावली में कम से कम तीन कवित्त ऐसे हैं जिनके विषय में संदेह होता है कि वे मूल उद्धव शतक में थे जो पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में छाँट दिए गए। उनमें से दो निम्नलिखित हैं--

तौ कत अक्रूर क्रूर आए इहिं गाम लैन
एक ही सौं सो जौ ठाम ठाम ठहरायौ है।
कहै रतनाकर हतायौ किन तासौं कंस
घट घट जाकौ निरगुन गुन छायौ है।
बिन सिर पाय की उचारन चले जो बात
ताको यहै कारन हमारैं मन आयौ है।
रूप तौ इहाँ ही रह्यौ हिय में हमारैं तुम्हैं
ताही तैं अनूप रूप भूप दरसायौ है।।

थाती राखि रूप की हमारी हाय छाती माहिं
बाल कौ सँघाती घाती बनि बिलगायौ है।
कहै रतनाकर सो सूधौ न्याव ही तौ ऊधौ
मधुपुरि माँहि जो अरूप सो लखायौ है।
परम अनूप एक कूबरी बिरूप छाँड़ि
रूपवती जुवती न कोऊ मोहि पायौ है।
तातै तुम्हैं अब मनभावन सुरूप सोई
हिय तैं हमारैं काढ़ि ल्यावन पठायौ है ॥

यह संदेह उस समय विश्वास बन जाता है जब हम देखते हैं कि १७ अक्तूबर ९२ के भारतजीवन में उद्धवशतक शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित कवित्तों

४१. समस्यापूर्ति (प्रथम भाग) उल्लेख्य है कि 'बहार बरषा की है' समस्या पद्माकर के 'बहलन बुंदन बिलोकौ बगुलान बाग, बंगलनि बेलिन बहार बरषा की हैं से ली गई है।'

में 'संपत्ति बिलोकि वृषभान नंदराय जू की' कवित्त 'रत्नाकर' के 'श्री ब्रजमहिमा' शीर्षक के अंतर्गत कवित्तों में चौथा है।

क्या ही अच्छा हुआ होता यदि वर्तमान उद्धवशतक के कुछ भद्दे और भरती के कवित्तों[४२] की जगह पुराने शतक के ही ये तीनों कवित्त संग्रहीत हो पाते। कम से कम 'पाट देत माटी' वाले अतिशय कुरुचिपूर्ण कवित्त के स्थान पर 'थाती राखि रूप की हमारी हाय छाती माँहि' वाला छंद रहा होता तो आज बड़े परिश्रम से शतक के 'जिन दोषों की कल्पना की जाती है, उनकी संख्या में निश्चय ही कुछ कमी हो गई होती।

प्रस्तुत प्रसंग समाप्त करने के पूर्व इस पर भी विचार कर लेना कम मनोरंजक न होगा कि अद्भुत मनोवैज्ञानिक विस्मृति अथवा जानबूझकर किसी कारणवश तथ्यगोपन की प्रवृत्ति के वशीभूत रत्नाकर जी को पुनर्निर्माण के समय शतक के विलुप्त कवित्त किस प्रकार याद आये।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य का यह स्वभाव होता है कि उसे जो वस्तु प्रिय होती है, उसकी छाया में वह सदैव रहना चाहता है, और वह यदि कवि हुआ तो उस छाया को वह अपनी वाणी में भी जाने अनजाने ग्रहण कर लेता है कारण यह है कि निरंतर उसी छाया का चिंतन करते करते भृंगी कीट न्याय से वह उस उक्ति, विचार या भाव को आत्मसात् कर लेता है और उसे वह अपनी ही उद्भावना मानने लगता है। जिसे ओछे मन और मस्तिष्क के लोग प्रायः भावापहरण कह बैठते हैं, वह वास्तव में इसी 'छायावाद' की मोहमयी माया है। तुलसी या मिल्टन ने किसी प्रकार की काव्यक्षमता के अभाववश भावापहरण की दुश्चेष्टा नहीं की थी, तथापि दोनों ही महाकवियों की काव्य सृष्टि में ऐसे प्रभूत उदाहरण मिलते हैं जो संस्कृत या लैटिन उक्तियों के विशुद्ध अनुवाद हैं। अतः ऐसे कवित्त स्मरण कर लेने में रत्नाकर जी को अवश्य सुविधा हुई होगी जिनकी रचना उन्होंने किसी पूर्ववर्ती उक्ति पर मुग्ध होकर की थी। उदाहरण के लिये उद्धवशतक का सातवाँ कवित्त लिया जा सकता है।

आलम का यह प्रसिद्ध सवैया है—

४२. (१) केती मिली मुकुति वधूवर के कूबर में
ऊबर भई जौ मधुपुरि मैं समानो ना।
—उद्धवशतक क० सं० ४३

(२) आप उनके गुरू हैं किधौं चेला हैं। क० सं० ७०

(३) काट देत खाट किधौं पाट देत माटी है। —क० सं० ७६

जा थल कीन्हें बिहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करैं ।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं ।
'आलम' जौन ते कुंजन मैं करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं ।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं ॥

उक्त सवैया का केंद्रीय भाव रत्नाकर जी को इतना अधिक रुचिकर हुआ कि वह उनके एक कवित्त में इस प्रकार प्रकट हुआ—

'फिरत हुते जू जिन कुंजनि मैं आठौ जाम
नैननि मैं अब सोई कुंज फिरिबौ करैं ॥'

तो निष्कर्ष यह कि रत्नाकर जी को ऐसे कवित्त सहज ही याद आ गए जिनमें किसी पूर्ववर्ती कवि की छाया थी अथवा उक्ति वैचित्र्य था ।

स्मृति के विधान में सामीप्य और साहचर्य का महत्वपूर्ण स्थान हुआ करता है । काल याद आ जाने पर स्थान भी याद आ जाता है और स्थान का स्मरण होने पर कुपात्र की भी याद आ जाना कठिन नहीं होता, सुपात्र की तो बात ही और है ।

पुनः लंबी सामासिक शब्दावलीयुक्त ध्वनियाँ अनायास ही स्मृति पटल पर स्थायी रूप से अंकित हो जाया करती हैं । लंबी लंबी कविताएँ और गीत अपने इसी गुण के कारण श्रोताओं को बहुत ही शीघ्र याद हो जाया करते हैं । उद्धव-शतक की पुनर्निर्माण की प्रक्रिया पर विचार करते समय यह तत्व भी कथमपि उपेक्षणीय नहीं हैं । उदाहरणार्थ शतक का ग्यारहवाँ कवित्त प्रस्तुत किया जा सकता है । इस कवित्त की 'राधेमुख मंजुल सुधाकर के ध्यान ही तें' की संगुंफित श्रुतिमधुर सामासिक पदावली ने रत्नाकरजी की स्मृति को जगाने में कुछ न कुछ योग अवश्य दिया होगा । यदि न दिया हो तो यह अस्वाभाविक है । शतक के प्रचलित संस्करण में 'राधे' का 'राधा' पाठ परिवर्तन व्याकरण के प्रति कवि की जागरूकता का परिणाम है । जान पड़ता है कि ज्योंही कवि को यह ज्ञात हुआ कि तद्भव आकारांत शब्द तो एकारांत किए जा सकते हैं परंतु तत्सम नहीं अर्थात् पटना का तो पटने हो सकता है परंतु मथुरा का मथुरे नहीं, तब उसने पाठ बदल दिया ।

संगीत तत्व की प्रधानता वाली ध्वनियाँ भी तत्काल ही हमारी स्मृति का साहचर्य प्राप्त कर लेती है । सिनेमा की लोकप्रिय ध्वनियों की ओर इस संदर्भ में संकेत किया जा सकता है । फलतः रत्नाकर जी को उन छंदों का स्मरण करने में विशेष आयास न करना पड़ा होगा जिनमें संगीत तत्व की प्रधानता थी जैसे यह कवित्त जिसका प्रारंभ 'गोकुल की गैल गैल गैल गैल ग्वालन के गोरस के काज लाज बस कै बहाइबौ' से है ।

इस प्रकार रत्नाकर जी को जो कवित्त याद आए उनमें संशोधन करने के लिये उनकी वर्द्धिष्णु विद्या बुद्धि ने उन्हें प्रेरित किया। फलस्वरूप थोड़ा बहुत संशोधन उन्होंने अपने सभी पुराने कवित्तों में किया। सामान्यतया ऐसे संशोधन अत्यंत साधारण थे परंतु कहीं कहीं परिवर्तन की क्रिया काफी जटिल भी थी, विशेषतः ऐसे छंदों में जिनमें कवि कारक बदलने का प्रयत्न करता था। शतक का चौथा कविच 'रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीन सौं' पर्याप्त प्रसिद्ध है। इसमें करण कारकांत का प्रयोग है परंतु मूल रूप में यह कर्ता कारकांत था जैसे 'रह्यो सह्यो बाकी कहि दीनी हिचकीन नै।'

यहीं यह भी कह देना आवश्यक है कि रत्नाकर जी ने जो भी परिवर्तन किये उनसे उस कवित्त की कोई न कोई भाषागत या भावगत विशेषता कुछ अधिक-निखर उठी।

प्रबंध की परिकल्पना

उद्धव संबंधी सौ मुक्तकों का संकलन तो ४२ वर्ष में हो गया। प्रायः कवि गोष्ठियों, विशेषतः प्रयाग के 'रसिक मंडल' में रत्नाकर जी ने उसका पाठ भी प्रारंभ कर दिया। मंडल के अध्यक्ष डा० रामप्रसाद जी त्रिपाठी और मंत्री रसालजी के आग्रह पर रत्नाकरजी उसके प्रकाशन के लिये भी प्रस्तुत हो गये। कारण जो भी हो पर प्रतीत यही होता है कि उनकी इच्छा इसे प्रबंध काव्य का रूप देने की हुई। रत्नाकर जी जैसे विचक्षण विद्वान और विलक्षण कवि से यह छिपा न था कि वास्तविक प्रबंध काव्य का रूप देने के लिये इसमें आमूलचूल परिवर्तन करना पड़ेगा, अतः उन्होंने इधर उधर मंगलाचरण, षड्ऋतुवर्णन और कुछ उपसंहारात्मक कवित्त रचकर प्रबंधात्मकता का ढाँचा सा खड़ा कर लिया।

यह देखकर कुतूहल होता है कि मंगलाचरण सहित उद्धवशतक की वास्तविक छंद संख्या ११८ है। शतकों में शताधिक छंदों का रहना कोई नई बात नहीं है फिर भी जहाँ तक उद्धवशतक का संबंध है जान पड़ता है रत्नाकरजी ने पूरे सौ छंद ही संकलित किए थे। उसे प्रबंधरूप प्रदान करने के प्रयत्न में १८ छंद और जुड़ गए।

प्रबंध काव्य में शास्त्रीय दृष्टि से मंगलाचरण आवश्यक है अतः 'जासौं जाति विषय बिषाद की बिवाई बेगि' वाले कवित्त के रूप में कवि ने वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण की रचना की। साथ ही 'न्हात जमुना मैं जलजात एक देख्यौ जात' और 'आए भुजबंध दिये ऊधव सखा के कंध' जैसे दो विषयप्रवेशात्मक छंद रचे। प्रबंध काव्य में ऋतु वर्णन भी आवश्यक होने के कारण उसमें षड्ऋतु

वर्णन के छ कवित्त भी जोड़ दिए गए और इस प्रकार छंद संख्या १०६ हो गई। यहीं उद्धवशतक की समाप्ति हो जाना चाहिए थी। परंतु प्रबंधात्मक कथा के सूत्र की पूर्ति के लिये 'व्रज से लौटने पर उद्धव वचन श्री भगवान के प्रति भी' उपसंहार रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक हो उठा। फलतः नौं उपसंहारात्मक कवित्तों की सृष्टि हुई और इस प्रकार मुक्तक संग्रह को प्रबंध काव्य बनाने में शतक की छंद संख्या ११८ हो गई।

पाठांतर की समस्या

रत्नाकर जी का जन्म सन् १८६६ और मृत्यु सन् १६३२ में हुई थी। इस प्रकार उनके जीवन के ३४ वर्ष १९वीं शताब्दी में और ३२ वर्ष बीसवीं शती में व्यतीत हुए थे। वैसे भी ३४ वर्ष ३२ वर्ष से अधिक ही होते हैं। फिर रत्नाकरजी के जीवन के पूर्वार्द्ध के ३४ वर्ष असाधारण थे। 'फड़कता है चिरागे सहृ जब खामोश होता है' की स्थिति को चरितार्थ करते हुए जिस समय रीतिकाल अपनी समस्त विशेषताओं की लहकती हुई लौ को निर्वाण पथ की ओर तेजी से उकसा रहा था वही रत्नाकर का विकासकाल था। नवीन अर्थ में अस्तप्राय सामंती वातावरण और रीतिकालीन साहित्यिक परिवेश में पोषित यह प्राणी नवयुग में रहते हुए भी मध्यकालीन वातावरण की कल्पना में खोया खोया सा रहता था। भाषा, भाव, रचनाशैली, निजी वेशभूषा, मतिगति, रुचिविचार सभी तो उसके रीतिकालीन कवियों के मेल में थे और इसी तथ्य में योगायोग की सार्थकता भी सिद्ध है कि जैसे उन कवियों के कर्तृत्व में लिपिकारों के प्रमाद से पाठांतर की समस्या उपस्थित होती है, वैसे ही रत्नाकर जी की बौद्धिक जागरूकता के कारण उनकी रचनाओं में भी।

यह भी अद्भुत संयोग ही कहा जायगा कि जैसे रीतिकाल का आरंभ केशव से होने के बावजूद उसका वास्तविक आरंभ उसके प्रायः २५ वर्ष बाद चिंतामणि से हुआ वैसे ही उसका अंत द्विजदेव से होते हुए भी प्रायः उनके २०—२२ वर्ष बाद उसकी समाप्ति रत्नाकर से हुई। वास्तविकता यही है कि वेत्रवती के तट पर ओरछा दर्बार में महाकवि आचार्य केशवदास ने काव्य की जिस रीति शृंगारपरक परंपरा का सूत्रपात किया था उसी की सफल परिसमाप्ति सरयू के किनारे अयोध्या दर्बार में महाकवि आचार्य रत्नाकर ने की। केशव के काव्यकाल की समाप्ति सन् १६१७ के आसपास हुई थी और उसके २६ वर्ष बाद सन् १६४३ में चिंतामणि के रचनाकाल से रीति अथवा शृंगार काव्य की क्रमबद्ध परंपरा चली थी। उसी प्रकार सन् १८६८ के आसपास द्विजदेव ने एक प्रकार से उस परंपरा को उसकी सीमातक पहुँचा कर समाप्त कर दिया फिर भी उसकी चरम समाप्ति के

युग का आरंभ सन् १८८८ ई० में द्विजदेव के प्रायः २१-२२ वर्ष बाद रत्नाकरजी ने किया।

इस प्रकार केशव और रत्नाकर ब्रजभाषा काव्यकामिनी की शृंगार-शाटी के दो भड़कीले किनारे हैं। जैसे साड़ी के किनारे उस साड़ी के अंग होते हैं, परंतु उनका रंग साड़ी के रंग से भिन्न होता है, वैसे ही केशव और रत्नाकर समूची शृंगारपरंपरा के अंग होते हुए भी अपना रंग कुछ पृथक ही रखते हैं। यही बात यों भी कही जा सकती है कि केशव हिंदी काव्य के शृंगारकाल के प्रातःकालीन अरुण पथगामी सूर्य थे और रत्नाकरजी संध्याकालीन वरुण पथगामी सूर्य।

*

घन आनंद कौन थे ?

[नवरत्न कपूर]

'घन आनंद ग्रंथावली' का संपादन करते समय वाङ्मुख में प्राचीन 'आनंद घन ग्रंथावली' के विषय में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने दर्शाया है :

"आनंद घन ग्रंथावली में आनंद घन के नाम पर जो रचनाएँ दी गई हैं उनमें ब्रजभाषा के अतिरिक्त पूरबी, बंगाली, पंजाबी, राजस्थानी (कहीं कहीं गुजराती मिश्रित) कई भाषाओं का प्रयोग हुआ है, पर प्राधान्य पंजाबी का ही है। 'आनंदघन' की 'इश्कलता' पंजाबी में है, बीच बीच में दोहे ब्रजभाषा में भी रखे गए हैं।"[१]

डा० केशरीनारायण शुक्ल ने 'संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ' में 'इश्कलता' और पदावली के पंजाबी पदों का संबंध गुरु गोविंदसिंह की शिष्यपरंपरा में श्री रामदयाल के शिष्य आनंद घन से जोड़ने का प्रयास किया है।[२] किंतु शुक्लजी का तर्क हमें मान्य नहीं है, उसके निम्नोक्त कारण हैं :

१. शुक्लजी द्वारा उल्लिखित आनंदघन एक उदासी साधु थे, जिन्होंने 'जपनी टीका' का निर्माण किया था। मेकालिफ ने आनंदघन उदासी को गुरु नानक जीवन चरित का लेखक भी बताया है।[३] सेंट्रल पब्लिक लाइब्रेरी पटियाला में हमें आनंदघन उदासी की 'आरती सोहिला सटीक', 'सिध गोसटि सटीक', 'रागमाला कली आनंद सटीक' की हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त हुई

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : घन आनंद (प्रबोधिनी संस्करण, २००६), पृ० ६१

२. संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ (आनंद घन की एक हस्तलिखित प्रति), पृ० २३६ (ना० प्र० स०, २००७ वि०)।

३. एम० ए० मेकालिफ : दि सिक्ख रेलिजन, वाल्यूम १; क्लेरेंडन प्रेस, आक्सफोर्ड (१६०६), भूमिका पृ० ७१।

हैं।[४] इन ग्रंथों में निर्गुण भक्ति का ही प्रतिपादन हुआ है। किंतु 'इश्कलता' तथा मिश्रजी द्वारा संपादित घन आनंद ग्रंथावली की अन्य कृतियों का कवि कृष्ण और राधा का प्रेमी दिखाई पड़ता है।

२. घन आनंद के काव्य में वर्णित कतिपय ऐसे तथ्य हैं जो समान रूप से 'इश्कलता' तथा 'पदावली' में उपलब्ध होते हैं, यथा :

(क) भाग्य की प्रशंसा

१. मैया महरि जसोमति रानी। **भागनि भरी** विधाता बानी ॥ ५ ॥
गोकुलगीत

२. नैन बैन मन सों समोय राख्यो **बड़भागी** ॥ ५१ ॥ वृंदावन मुद्रा

३. **भागनि भरी** जसोदा मैया मन को मोद कहौं ॥ ८०८ ॥ पदावली

४. आनँद घन **वड्डा तिना दा भाग** जिना नाल तुसी वो मोहबत जोड़े ॥५४७॥
पदावली

(घ) दुर्भाग्य का अभिशाप प्रेम भाजन की निर्दयता

१. आनँद के घन लखें अनलखें दुहूँ ओर
दईमारी हारी हम आप हौ **निरदई** ॥ २८० ॥ सुजान हित

२. बिगर जान महबूब असाने की **बेदरदी** दैंदा है ॥ १८ ॥ इश्कलता

३. आनँदघन **निरमाहिया**, मांडो सगगे गाम ॥ २८ ॥ इश्कलता

(ग) चातक और मेघ की उपमा

१. आरतिवंत पपीहन को धनआनँद जू पहचानौ कहा तुम ॥४०४॥ सुजानहित

२. **आनँद घन** हो प्रान-**पपीहा** निसदिन सुध न बिसारी है ॥ १८ ॥ इश्कलता

३. सदा सनमुखो सब दिन दरसै। मद हसनि **धनआनँद** बरसै ॥ ७५ ॥
दग चकोर चित-**चातक** पोषै। अगनित कला बढ़ावत तोषै ॥७६॥ विचारसार

४ भाई संतोख सिंह ने 'गरब गंजनी टीका' नामक ग्रंथ में आनंदघन की 'जपजी टीका' का घोर खंडन किया है। 'गरब गंजनी टीका' की हस्तलिखित प्रति भी पटियाला की सेंट्रल पब्लिक लाइब्रेरी में सुरक्षित है।

४. **ब्रजमोहन आनँद घन** प्यारिया निपट गरीब **पपीहाँ** नू पाल
॥ ४६७ ॥ पदावली

(घ) सौगंध लेने की प्रवृत्ति

१. तेरी **सौं** परी सुजान तो आँखिन देखि ये आँखि न आवति
मोपै ॥ १८५ ॥ (सुजान हित)

२. जान ! तिहारी **सौं** मेरी दसा यह को समझै अरु काहि सुनाऊँ
॥ ११३ ॥ सुजानहीत

३. तुम्हारी **सौं** मोहिँ तुम बिना कछू न भावै ॥ ५ ॥ पदावली

४. भई सुखी सुनौ बाँके बिहारी ।
न करिहै मान फिरि **सौं** है तिहारी ॥ ५१ ॥ वियोग-बेलि

(ङ) रचना का नामकरण

१. **सरस वसंत** प्रीति की गोभा । प्रगटित होत विराजत शोभा
॥ २० ॥ सरसवसंत

२. प्रगट **प्रेम पद्धति** कहि लही कृपा अनुसार ॥ १०६ ॥ प्रेमपद्धति

३. **दान घटा** मिलि छबि छटा रस धारनि सरसाय ॥ १४ ॥ दानघटा

४. कृष्ण **कौमुदी** नाम यह मोहन मधुर प्रबंध ॥ ८४ ॥ कृष्णकौमुदी

५. सब **बिचार को सार** है या निबंध को गान ॥ ८७ ॥ विचारसार

६. बिरह सूल सों वारि करि, घन आनंद सों सींच ।
इस्कलता झालरि रही, हिये विमन के बीच ॥ ५ ॥ इश्कलता

(च) त्योहारों का वर्णन

१. **फागुन** महीना की कही ना परै बातैं दिन-
रातैं जैसे बतीत सुने तें डफ-घोर कों ।
कोऊ उठै तान गाय, प्रान बान पैठि जात,
हाय चित बीच, पै न पाऊँ चितचोर कों ॥ ४११ ॥ सुजानहित

२. भरि पिचकारिन रंग सुरंग गुलाल है ।
बाजत चंग उपंग झाँझ डफ ताल है ।
गावति हैं ब्रजनारि **फाग** रँगबोरियाँ ।
आनँद-जीवन ज्यान सु हो हो **होरियाँ** ॥ १२ ॥ इश्कलता

३. बोलै हो हो **होरी** घनआनँद उमंग बोरी,
छैल-मति छकै छबि हरै रदछद की ।
रोरी भरि मुठी गोरी भुज उठी सोहै मनौ,
पराग सों रली भली कली कोकनद की ॥ ८९ ॥ प्रेमपत्रिका

४. मनभायो त्यौहार मनायो मान्यो है भाग फागु लागै ँ ही ँ।
उघरि उघरि खेलत रस झेलत रीझनि भीजि रहे आगे ँ ही ँ।
सब रँग साज-समाज लिये ँ रँग गावत रागनि अनुरागै ँ ही ँ।
ब्रजजन जीवनधन आनँदघन राधा-मोहन-पन पागै ँ ही ँ॥ २६३॥
पदावली

(छ) विषय, भाव और शब्द साम्य

१. हरि चरनन की रज आँखिन आँजौ मोहि यहै अभिलाष रहै नित
पवन बीर तेरे पाय परति हौं आनंदघन
पिय तन न ढरकि जाहु हा हा कर हित॥७३॥ पदावली
एरे बीर पवन तेरो सबै ओर गौन वारी।
तोसो और कौन मनै ढरकौंही बानि दै॥
बिरही बिथाहि मूरि आँखिन मैं राखौं पूरि।
धूरि तिन पायनि की हा हा नैकु आनि दै॥ २४६॥ सुजानहित

२. हीन भए जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै।
नीर सनेही को लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।
पा मन की जु दसा घन आनंद जीव की जीवनि जानही जानै
॥ ४॥ सुजानहित

हीन भए जल मीन छीन बुधि मैंडी पीरन पावै है।
लाय कलंक यार अपने कूँ तैं हो छिन मरि जावे है।
आनँदघन इस दिल दी बेदन लहै सुजान बिहारी है॥४१॥
इश्कलता

३. कैसी फबि घन आनँद चौंपनि सों पहरी चुनि साँवरी सारी
॥ २३८॥ सुजानहित

पहिरी चुनि चोंपनि सों सोवे सँवारी सारी सूही॥१६॥ पदावली

४. रीझनि लै भिजई आनँदघन मति भई बौरी है॥ ५२२॥ पदावली
घन आनँद लाज तो रीझनि भीजै॥
मोह में आवरी है बुधि बावरी॥ ३७॥ सुजानहित

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि 'इश्कलता' एवं 'पदावली' का रचयिता वही व्यक्ति है जो 'कृष्णकौमुदी', 'दानघटा', 'प्रेमपत्रिका', 'सरसबसंत' 'बिचारसार' आदि का है। वह है घनआनँद (अथवा आनंदघन), जो

वृंदावन में अपनी रचना किया करता था, उदासी आनंदघन इससे भिन्न व्यक्ति हैं।[५]

घन आनंद विषयक जनश्रुतियाँ

(क) वृंदावनवाले घन आनंद (आनंदघन) का स्थितिकाल सन् १६७३ से सन् १७६० तक माना गया है। अधिकांश विद्वानों को यह मान्य भी है। श्री महादेवप्रसाद के 'साहित्यभूषण' एवं ठाकुर शिवसिंह कृत 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर डा० ग्रियर्सन ने इन्हें जाति का कायस्थ तथा मुहम्मद शाह (१७१९-४८ ई०) का मुंशी बताया है।[६]

(ख) डा० ग्रियर्सन के आधार पर ही डा० गौड़ ने इन्हें बादशाह बहादुरशाह का मुंशी बताया है।[७]

(ग) श्री राधाचरण गोस्वामी (वि० सं० १९१५-वि० सं० १९८२)[८] के अनुसार घन आनंद (आनंदघन) का संबंध सुजान से था। दिल्लीश्वर के आदेश पर ध्रुपद न गाने से उन्हें निर्वासित कर दिया गया। गोस्वामी

५. डा० मनोहरलाल गौड़ ने घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा, पृ० ३१ पर वृंदावन में 'जपजी' के टीकाकार का प्रसंग 'दुष्कल्प' माना है। किंतु यह बात स्वीकार्य नहीं है। क्योंकि सिक्ख धर्म के आध्यात्मिक पुरुष १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध (१७१३ ई०) में मथुरा-वृंदावन में विद्यमान थे। गुरु गोविंदसिंह की विधवा पत्नी माता सुंदरीजी तथा उनके दत्तक पुत्र अजितसिंह तथा उनके वंशज जाहीसिंह वहीं अवस्थित थे। (सर रिचर्ड बर्न : दि कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, वाल्यूम ४, पृष्ठ ३३५-३६)। अतः उदासी आनंद घन का वहाँ पहुँचना असंभव तो नहीं है, किंतु कृष्ण-राधा प्रेम विषयक इसके कवित्व में हमारा विश्वास नहीं है।

६. (क) किशोरी लाल गुप्त : हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास (सं० ३४७), पृष्ठ २१४ (प्रथम संस्करण, १९५७)। (ख) पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : घन आनंद, पृष्ठ ५२ (वाङ्मुख), सं० २००९।

७. डा० मनोहर लाल गौड़ : घनानंद और स्वच्छंद काव्य धारा, पृष्ठ १ (प्रथम संस्करण, सं० २०१५)।

८. शंभुप्रसाद बहुगुना : घन आनंद, पृष्ठ २ (प्रथम संस्करण, सं० २००१)।

९. वियोगी हरि : ब्रजमाधुरीसार, पृष्ठ १७३-७४ (प्रथम संस्करण, २०११)

जी ने ही यह तथ्य सर्व प्रथम प्रकट किया [१०], किंतु उन्होंने दिल्ली नरेश का नाम नहीं दिया है।[११]

(घ) 'लक्ष्मी पत्रिका' में लाला भगवानदीन द्वारा प्रकाशित एवं बाबू अमीर सिंह द्वारा उद्धृत का सार इस प्रकार है—

"आनंदघन का जन्मकाल लगभग संवत् १७१५ तथा मृत्युकाल सं० १७९६ है। ये दिल्ली के रहने वाले भटनागर कायस्थ थे। फारसी भली भाँति जानते थे। एक जनश्रुति के आधार पर इन्हें अबुलफज्ल का शिष्य बताया जाता है। ये अल्पाधिकार पर नियत थे और अपनी सुयोग्यता, स्वामिभक्ति तथा परिश्रम के प्रभाव से मुहम्मदशाह के खासकलम (प्राइवेट सेक्रेटरी) हो गए थे। इन्हें कृष्णलीला से प्रेम था। महीनों तक व्यय का भार अपने ऊपर लेकर दिल्ली में रास लीला करवाते थे। स्वयं भी किसी किसी लीला में भाग लेते थे। इससे इन्हें हिंदी भाषा सीखने तथा साधु संगति का शौक लग गया। तभी कविता करने लगे। आज तो अपनी काव्य प्रतिभा से हिंदी कवियों के समकक्ष आते हैं। रास की भावना का इन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये श्रीकृष्ण की लीला में ही मग्न रहने के लिये दरबार तथा गृहस्थी से नाता तोड़कर वृंदावन चले आए और वहाँ पर व्यासवंश के किसी साधु से दीक्षा लेकर वहीं उपासना में लीन हो गए।...'सुजान सागर' का प्रणयन ब्रजवास में ही हुआ।"[१२]

मुगल कालीन इतिहास में घन आनंद का उल्लेख

बहादुरशाह से घन आनद के संबंध वाली बात डा० गौड़ ने कही है। किंतु उन्होंने अपने आधारग्रंथ (सर जार्ज ग्रियर्सन : ए माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान) के संस्करण का उल्लेख नहीं किया। बादशाह बहादुरशाह का राज्यकाल सन् १७०७–१७१२ है। अवस्था के लिहाज से घन आनंद उसके समवर्ती तो हैं, पर वे बहादुरशाह के मुंशी भी रहे हैं, ऐसा प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं हुआ। मुहम्मशाह रंगीले की डायरी अथवा तत्कालीन इतिहासग्रंथों में घन आनंद और सुजान विषयक किसी घटना का वर्णन

१०. डा० मनोहर लाल गौड़ : घनानंद और स्वच्छंद काव्य धारा, पृष्ठ, ५।
११. वही, पृ० ५
१२. (क) स्व० बाबू अमीर सिंह : रसखान और घनानंद, १०३८–३९ (द्वितीय संस्करण, २००८ वि०)। (ख) डा० मनोहरलाल गौड़ : घनानंद और स्वच्छंद काव्य धारा, पृष्ठ १०।

तो नहीं मिलता। किंतु उस समय के इतिहास में 'नंद' और 'आनंद' नामक व्यक्तियों में कवि को खोज लेना उचित होगा। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर उनका विवरण निम्न प्रकार है—

(क) नंदलाल मंडलोई—यह मुगल साम्राज्य के आधीन इंदौर का चौधरी था। मुगल साम्राज्य के अधिकारियों से परेशान होकर यह जयसिंह के परामर्श से सन् १७१८ में मराठों से आ मिला। १७३१ ई० में यह मराठों की सहायता से मुगलों के विरुद्ध लड़ा था।[१३]

(ख) आनंदराम मालवा के मालवी राजा गिरधर बहादुर का एक संबंधी, ८ दिसंबर, १७२८ के मराठों से युद्ध करते समय उज्जैन के पास मारा गया।[१४]

(ग) राय आनंदराम 'मुखलिस'—पंजाब के जिला स्यालकोट में १११९ हिजरी (१६९८ ई०) में उत्पन्न हुआ।[१५] यह जाति का खत्री था।[१६] कई पुश्तों से इसके पूर्वज तैमूर वंश के अमीरों के यहाँ नौकरी करते आ रहे थे। स्वयं 'मुखलिस' भी मुहम्मदशाह के प्रधानमंत्री एत्माद-उल-दौला कमरुद्दीन तथा उसके चचेरे भाई सेफ-उल-दौला (लाहौर का सूबेदार) के दरबार का वकील रहा। 'मुखलिस' को शाही दरबार से 'रायरायान' की उपाधि मिली हुई थी। यह अपने समय के फारसी के गिने चुने विद्वानों में से था। अपने समकालीन सभी प्रसिद्ध कवियों से इसका संपर्क था। इसकी निम्नांकित रचनाएँ उपलब्ध हैं—

१. गुलदस्ता-ए-इसरार (नादिरशाह को लिखे गए पत्रों का संग्रह)।

२. बदा-ए-वफा (यह ग्रंथ 'तज्किरा' के नाम से प्रसिद्ध है। मुगल इतिहास के शोधकर्ता विलियम इरविन, ईलियट तथा डासन, एवं यदुनाथ सरकार ने इसका उपयोग किया है। इसमें नादिरशाह के दिल्ली आक्रमण का आँखों देखा विवरण है।)

१३. विलियम इरविन : दि लेटर मुगल्स, खंड २ (१९२२ ई०), पृ० २४८।

१४. वही, खंड २ (एम० सी० सरकार एंड संस कलकत्ता १९२१), पृ० २४३।

१५. सैयद सबाह उद्दीन अब्दुल रहमन : बज्म-ए-तैमूरिया (मतबा मुआरिफ आजमगढ़, १९४८) पृ० २१० ।

१६. डी० बी० तारापोरवाला तथा डी० एम० मार्शल : मुगल बिबलियो ग्राफी (दि बुक कंपनी प्राइवेट लि०, बंबई, १९६२), पृ० २८।

३. मिर्ग्रात-ए-इस्तलाहात (फारसी शब्दों, मुहावरों और सूक्तियों-सुभाषितों का संग्रह। इसमें समकालीन व्यक्तियों का संक्षिप्त परिचय भी कहीं कहीं दिया गया है।)

४. रुक्कात - ए - मुखलिस (मुखलिस के निजी पत्र, जिनका साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्व है)।

५. सफरनामा (मुहम्मदशाह के बिनगढ़ के अभियान का वर्णन)।

६. परीखाना (सुंदर हस्तलेखों के संग्रह की भूमिका)।

७. चमनिस्तान (१७४६ ई० लिखित; समकालीन व्यक्तियों, सुभाषितों, वृक्षों, फूलों, फलों आदि का विवरण)।

८. हंगामा - ए - इश्क (१७३६–४० ई० लिखित; कर्नाटक की रानी चंद्रप्रभा और कुँवर सुंदरसेन का प्रेमवृत्तांत)।

९. कारनाम - ए - इश्क (१७३१–३२ ई० लिखित: राजकुमार गौहर और ममलुकात का प्रेमवृत्तांत)।

१०. रोजनामचा-ए-एहवाल – (दैनंदिनी)

११. रुबाइयात (रुबाइयों का संग्रह)।

१२. दीवान (फारसी में लिखित गजलों की पुस्तक)।

१३. इंतखाब-ए-तुफाह-ए-सामी (साम मिर्जा के तज्किरा का संक्षेप)

१४. दस्तारुल-अमल (कार्यालय के लिपिकों की नियमपुस्तक)।

(घ) लाला आनंदसिंह—मुहम्मदशाह के राज्यकाल के दूसरे वर्ष (सन् १७२०) में ही सैयद भ्राताओं (सैयद हुसैन अली खाँ और सैयद अब्दुल्ला) का पतन आरंभ हो गया था। उस समय के बादशाह के साथ हुए संघर्षों में सैयदों के प्रमुख हिंदू समर्थकों के विषय में इतिहासकार लिखते हैं—

'रायसूरतसिंह मुल्तानी और उसके पुत्र लाला आनंदसिंह ने कुछ नहीं किया, सिवाय अपने प्राणों और संपत्ति की रक्षा के। साहिबराय मुंशी का पुत्र लाला जसवंत राय अपने पिता के दबे हुए धन और बहुत सी संपत्ति को लुटने के लिये छोड़कर भाग गया। भागनेवाला दूसरा व्यक्ति राय सिरोमनदास कायथ था,[१७] जो कि दरबार सैयद अब्दुल्ला खाँ का वकील था। उसने (सिरोमनदास) अपना सिर और दाढ़ी मुँड़वाई और सिर तथा मुँहपर राख मलकर फकीर बन

१७. ईलियट ऐंड डासन—दि हिस्ट्री आव इंडिया : दि मोहेमडन पीरियड (तृतीय संस्करण, १६५३), पृ० १२२।

गया। वह अपने लँगोटे में मूल्यवान वस्तुएँ छिपाकर अपने मित्रों के तंबुओं में जा छिपा, जब तक कि उसने सैयद अब्दुल्ला के पास पहुँचने का प्रबंध न कर लिया। चूड़ामन हजारी ने, जो दीर्घकाल से सैयदों की नौकरी में था, अपना कर्तव्य निभाया। वह जबर्दस्ती बादशाह के तंबुओं की ड्योढ़ी (प्राइवेट ऍंट्रेंस) तक बढ़ आया, किंतु कुछ करने में असमर्थ रहा।'[१८]

कुछ दिनों बाद अब्दुल्ला खाँ कैद कर लिया गया। कुछेक दरबारी उसे बंधनमुक्त करवाने के पक्ष में थे। किंतु अधिकतर ने उससे पिंड छुड़ाने का सुझाव बादशाह को दिया। अंततः १२ अक्तूबर १७२२ को विष देकर उसकी हत्या कर दी गई।[१९] चूड़ामन जाट (हजारी) कुछ दिनों के लिये मुगलों से मिल गया था। किंतु उसकी बढ़ती हुई शक्ति अवर (जयपुर) नरेश की आँखों की किरकिरी बन गई। जयसिंह ने चूड़ामन पर आक्रमण किया और जाटों की राजधानी ठन को मटियामेट कर दिया। इस असह्य अपमान के कारण चूड़ामन विष खाकर (सितंबर-अक्तूबर १७२१ में)[२०] मृत्यु को प्राप्त हुआ।[२१]

उपयुक्त व्यक्ति

उल्लिखित चारों व्यक्तियों, में पहले दो (नंदलाल मंडलोई और आनंदराम) का उद्धरत व्यक्तित्व ही हमारे समक्ष आया है। राय आनंद राम 'मुखलिस' कवि होने के नाते अवश्य ही हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। फारसी का विद्वान होना, मुहम्मदशाह के समय में उच्चाधिकारी होना ये दोनों बातें लाला भगवानदीन की जनश्रुति वर्णित विशेषताओं के अनुकूल पड़ती हैं। पुनः घन आनंद के काव्य में मुहावरे और सूक्तियाँ प्रचुर परिमाण में लभ्यमान हैं। 'मिर्आत-ए इस्तलाहात' तो 'मुखलिस' विरचित शब्द-मुहावरा-सूक्ति कोष

१८. विलियम इरविन : दि लेटर मुगल्स, खंड २ (सन् १९२२), पृष्ठ ९१।
१९. सर रिचर्ड बर्न : दि केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, खंड ४ (एस० चांद ऐंड कंपनी दिल्ली, १९५७), पृष्ठ ३४८।
२०. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : दि फर्स्ट टू नवाब्स आव अवध (शिवलाल अग्रवाल ऐंड कंपनी, आगरा, द्वितीय संस्करण), पृष्ठ १०८।
२१. डा० हरिराम गुप्ता : मराठाज ऐंड पानीपत (पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़), पृष्ठ ७३।

है ही। इतना ही नहीं, इसी ग्रंथ में उन्होंने सैयद भाइयों की कतिपय चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन भी किया है।[२२]

किंतु कुछेक तथ्य 'मुखलिस' के विपक्ष में भी आते हैं। उन्होंने 'बदाए-वका' (तज्किरा) में मुहम्मदशाह से संबद्ध सन् १७४८ का वृत्तांत प्रस्तुत किया है। उधर 'मुरलिकामोद' का रचयिता घन आनंद संवत् १७६८ (१७४१ ई०) में वृंदावन में विद्यमान था।[२३] इसके अतिरिक्त राय आनंदराम 'मुखलिस' फारसी के विद्वान थे। किंतु घन आनंद की 'इश्कलता' में दस-बीस (महबूब, बेदरद, दिलजान, तलब, इलम, दिलदार, चस्म आदि) तथा यत्रतत्र गिनेचुने (गरूर, मियाँ, जमाल, चैन प्रभृति) फारसी शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं। फिर, 'मुखलिस' जाति के खत्री थे, घन आनंद कायस्थ।

अतः यही प्रतीत होता है कि घन आनंद नामक कवि राय आनंदराम 'मुखलिस' से भिन्न व्यक्ति है। संभवतः दोनों के नामों में 'आनंद' शब्द की एकरूपता होने के कारण आनंदराम 'मुखलिस' के व्यक्तित्व की विशेषताएँ अर्थात् फारसी का विद्वान होना तथा मुहम्मदशाह का खासकलम होना आदि प्रसंग घन आनंद के साथ भ्रमवश ही जुड़ गए हैं।

लाला आनंद सिंह ही तो घन आनंद (आनंद घन) नहीं हैं ?

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यही हमारे हिंदी कवि सिद्ध होते हैं। विचारणीय बातें ये हैं—

(क) रायसूरतसिंह कवि के पिता थे। वे अक्तूबर १७२० में मुहम्मद शाह रंगीले के दक्षिण अभियान के समय एक सैनिक अधिकारी थे।[२४] सन् १७२६ में मराठों और मुगलों के बीच हुई पश्चिमी गुजरात की चौथ संबंधी संधि के सिलसिले में मराठों की ओर से एक सूरतसिंह दूत बनकर आए थे।[२५]

२२. विलियम इरविन : दि लेटर मुगल्स, खंड २ (१९२२ ई०), पृ० १०० (पाद-टिप्पणी)।

२३. गोपमास श्रीकृस्न-पख सुचि।
संबत्सर अठानबे अति रुचि ॥ ५० ॥ मुरलिकामोद

२४. विलियम इरविन : दि लेटर मुगल्स, खंड २, (१९२२ ई०), पृष्ठ ५३ की पादटिप्पणी।

२५. वही, पृ० १९३।

संभवतः अपने समर्थक चूड़ामनि जाट और सैयद अब्दुल्ला के वकील सिरोमनिदास कायस्थ के मुगल साम्राज्य से संबंधविच्छेद होने के उपरांत राय सूरतसिंह मराठों से जा मिले थे। उन दिनों राजा साहू और पेशवा बाजीराव ही मराठों के सिरमौर थे। संभव है दिल्ली से भागकर (सन् १७२२-२३) राय सूरत सिंह मध्य प्रदेश (विदिशा वाले मार्ग)[२६] से होकर मराठा राज्य में पहुँच गए हों और तदनंतर राजा साहू के एक सेनाधिकारी (जनरल) कंठाजी के साथ गुजरात की ओर चल दिए हों।

आश्चर्य नहीं कि कंठा जी का विश्वसनीय होने के कारण ही सूरतसिंह को दूत बनाकर भेजा गया हो। वस्तुतः दौत्यकार्य उसी व्यक्ति को सौंपा जाता है जो विरोधी पक्षकी नीति से परिचित हो और अपने पक्ष का समर्थन भलीभाँति कर सके। सूरतसिंह सैयदों के समय में मुगलों के पुराने सेवक तो थे ही, अपने व्यक्तित्व एवं गुणों से भी उन्होंने कंठाजी और मराठों के हृदय में स्थान प्राप्त कर लिया होगा।

इसी घटना के कुछ दिन अनंतर सूरतसिंह के निधन पर कवि को बड़ा कष्ट हुआ, उसी का उल्लेख आश्रयहीन कवि ने यों किया —

अंतर मैं बासो पै प्रवासी को सो अंतर है,
मेरी न सुनत दैया आपनीयौ ना कहौ।
लोचननि तारे ह्वै सुझावौ सब सूझै नाहिँ,
बूझी न परति, ऐसैँ सोचनि कहा दहौ।
हौ तौ जानराय, जाने जाहु न अजान याते,
आनँद के घन छाय छाय उघरे रहौ।
मूरति मया की हा हा सूरति दिखैयै नेकु,
हमैं खोय या बिधि हो कौन धौँ लहा लहौ॥२७१॥
सुजानहित

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'जानराय'[२७] शब्द का अर्थ 'ज्ञानियों

२६. घनआनंद ने सुजानहित के वृत्त ५०५ में 'विदिशा' की महिमा का उल्लेख किया है। संभव है कवि पिता के साथ रहा हो और उसने अपनी आँखों देखी 'विदिशा' नदी के माहात्म्य का वर्णन कर दिया हो।

२७. 'जानराय' संबोधित और वही भावबोधक एक अन्य पद भी है--
जानराय! जानत सबै, अंतरगत की बात।
क्यौं अजान लौं करत फिरि, मो घायल पर घात॥१९२॥
सुजानहित

में श्रेष्ठ[२८] दिया है। संभव है कवि ने अपने पिता को गौरवान्वित करने के निमित्त ही यह शब्द व्यवहृत किया हो। 'जानराय' का अर्थ 'प्राणों' (जान) का 'स्वामी' (राय) भी हो सकता है। 'मूरति मया की हा हा सूरति दिखैये नेकु' (सप्तम चरण) से कोई अर्थ स्पष्ट नहीं होता। फिर इसमें 'मूरति' और 'सूरति' एक ही भाव (स्वरूप) के द्योतक हैं। संभव है इसमें 'सूरति' संबोधनात्मक शब्द हो। यदि उक्त चरण का पाठ इस प्रकार हो—

मूरति मया को हा हा सूरति! दिखैये नेकु

तो अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि 'सूरति' (कवि के पिता सूरतसिंह) से बिछुड़ा हुआ कवि दुःख से अभिभूत होकर उन्हें दर्शन देने (मूरति ··· दिखैये नेकु) की की आकांक्षा प्रकट कर रहा है। इस भाव का बोधक और 'सुरतिनाथ'[२९] (सुरतिनाथ) संबोधित पद्यांश हमारे तर्क का समर्थन करता है, जो यों है—

मेरी सुधि भूलहि बिचारियै सुरतिनाथ
चातक समाहै घनआनँद अचौन कौं।
ऐसी भूल हू सौं सुधि रावरी न भलै क्यौंहुँ,
ताहि जौ बिसारौ तौ सम्हारौ फिरि कौन कौं ॥४२५॥
सुजानहित

कवि के विभिन्न नाम

१. घन आनँद— इन्होंने अपने काव्य में सर्वत्र एक ही नाम का प्रयोग नहीं किया है। इनकी नामप्रयोगविधि के विषय में डा० गौड़ लिखते हैं—

'आनंदघन ने अपने नाम के प्रयोग में भी इसी स्वतंत्रता का प्रयोग किया है। इन्होंने इसके पर्याय भी दिए हैं, आनुपूर्वी भी बदली है और अंश का प्रयोग समस्त के अर्थ में भी किया है। इनके नाम के लिये प्रायः निम्नलिखित शब्दरूप व्यवहृत हुए हैं : आनँदघन, आनंदघन, आनंद के घन, आनंदपयोद, आनँद के घन, आनंदनिधान, पयोदमोद, आनंद, आनंदकंद, आनंदसदन, आनंदमेघ, आनंदमेह, आनंदसुधीर, आनंदअमीवरस, मोदघरमपयोद, सच्चिानंदघन, घन आनंद, आनंद के अंबुर, मोदमेह, आनंद अमृतकंद।'[३०]

२८. डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : घन आनंद (संस्करण, २००६) पृष्ठ ८८।
२९. सुरति (सूरत) नाथ (राय) = राय सूरत (सिंह)।
३०. डा० मनोहर लाल गौड़ : घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा (प्रथम संस्करण सं० २०१५), पृष्ठ २१।

कवित्त सवैयों में 'घन आनंद' (इसका सानुस्वार रूप 'घन आनँद' ही सर्वत्र आया है, शुद्ध 'घनानंद' रूप नहीं) शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। इनका 'घनआनंद' नाम किसने रखा इसका उत्तर अधोलिखित छंद दे रहा है—

प्राननि प्रान हौ, प्यारे सुजान हौ, बोलौ इते परपीरक हौ क्यौं।
चेटक चाव दुरौ उघरौ, पुनि हाथ लगे रहौ न्यारे गहौ क्यौं॥
मोहन रूप स्वरूप, पयोद सौं सींचहु जौ, दुख, दाह दहौ क्यौं।
नावँ धरे जग मै घनआनँद नावँ सम्हारौ तौ नावँ सहौ क्यौं॥३६५॥

सुजानहित

ये सुजान कोई पुरुष हैं। 'मोहन रूप स्वरूप पयोद' वाले व्यक्ति के लिये ही यह शब्द प्रयुक्त होता है। इस पद का अर्थ है मुग्ध करनेवाले (मोहनरूप) सूरत (स्वरूप) नामक बादल (पयोद)। इस प्रकार कवि ने अपने नामों के सदृश अपने पिता सूरतसिंह का भी पर्यायवाची नाम प्रयुक्त किया है। आश्चर्य नहीं यह नाम (घनआनँद) उन्होंने ही लाड में रखा हो तभी कवि ने 'घन' और 'आनँद' दोनों पदों में संधि करना (अर्थात् 'घनानंद' बनाना) उचित न समझा हो। यह नाम लाड का ही है, इसका उदाहरण 'सुजानहित' से भी मिलता है। ३५५वें वृत्त में 'सुजान प्यारे' को 'मेरी अभिलाषन की निधि' एवं 'रस दै दै उर आलबालहि भरत हौ' कहा है। अगले वृत्त (संख्या ३५६) में उन्होंने कृष्णजन्म का उल्लेख करके अंतिम चरण में 'घनआनँद लाड़िलो नाम' शब्दों का व्यवहार किया है, यथा—

लखैं अँखियानि ललाम लालहि सुनैं घनआनँद लाड़िलो नाम।

ऐसा आभास होता है कि कवि ने लाक्षणिक ढंग से अपने नामकरण की पुष्टि कर दी है।

आनँदघन—घन आनँद के बाद आनँदघन (आनंदघन तथा अनंदघन) ही सर्वाधिक व्यवहृत शब्द है। बहिःसाक्ष्य तथा अंतःसाक्ष्यों से इसके प्रयोग का कारण उपलब्ध होता है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'[31] में गोसाँई जी के एक सेवक, जो गुजरात के वैष्णव हैं, का उल्लेख हुआ है। जब गोसाँईजी द्वारिका में रणछोड़ जी के दर्शन को पधारे थे तब उनकी उस वैष्णव से भेंट हुई। प्रार्थना करने पर उन्होंने उसे अपनी सेवा में ले लिया। रणछोड़ जी के दर्शनो

३१. पं० रामचंद्र शुक्ल ने इसका रचनाकाल औरंगजेब के समय के आस पास बताया है। औरंगजेब का निधनकाल सन् १७०७ ई० है। घन आनंद से संबंध जोड़ने से 'वार्ता' वाली घटना १७२६–२७ ई० के लगभग पड़ती है। अतः इसका घनआनंद से संबंध संभव ही है।

परांत वे गोकुल की ओर चल दिए, उस समय एक चमत्कारपूर्ण घटना घटी, जिसका विवरण नीचे उद्धृत है--

'''''श्रीरनछोरजी के दरसन किये। पाछें श्री गुसांईजी उहाँ तें श्रीगोकुल को विजय कियो। सो मार्ग से एक दिन एक जगह श्रीगुसांईजी आप डेरा किये। सो तहाँ श्री गुसाँईजी ने रसोई करके श्री ठाकुर जी कों भोग समर्प्यो। और सब व्रजबासी टहलुवा रसोई करन लागे। तब इतने ही में अकस्मात मेह चढ़ि आयो। सो अँधियारो होय गयो। तब या वैष्णव ने श्री गुसाँई जी सों बिनती कीनी, जो— महाराज! अब कहा प्रकार कीजिए? तब श्री गुसाँईजी बोले, जो–अरे मेह! तू समहरि कै आइयो। हम आन्योर के हैं।

भावप्रकाश—यह कहि श्री गुसाँई जी आपु अपनो स्वरूप जताए। सो कहा? जो आप साक्षात् नंदराजकुमार हैं। सो पहिले सात दिनां तांई आपने श्री गोवर्द्धन कों धारन करि मेघ वृष्टि को निवारन कियो है। सोई यह स्वरूप हैं। सो गोपालदास जी गाए हैं—

श्री पुरुषोत्तम स्वतंत्र क्रीडा, लीलाद्विजतनुधारी।
सात दिवस गिरिवर कर धारयो, वासव वृष्टि निवारी॥

सो या प्रकार वे ही श्री पुरुषोत्तम आप द्विजरूप धारन करि प्रगट भए हैं। सो जताए।

तब ताही समय सब घटा उतरि गई। सो तहाँ श्री श्रीगुसाँई जी ने या भाँति अपने स्वरूप को माहात्म्य दिखायो।'''ता पाछें श्री गुसाँई जी आप श्रीगोकुल पधारे। तब यह वैष्णव हू साथ आयो। सो श्री नवनीतप्रिय जी के दरसन किये। ता पाछें श्री गुसाँईजी आप श्रीनाथजी के द्वार पधारे। तब वह वैष्णव हू साथ आयो। सो श्री गोवर्द्धननाथ जी के दरसन किए। ता पाछें श्री गुसांईजी आप वा वैष्णव को श्रीगोवर्द्धननाथ जी की सेवा में राखे। सो वह वैष्णव सेवा भली भाँति सों करन लग्यो। सो जहाँ तांई वाकी देह चली तहाँ ताँई सेवा करी।'[३२]

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में इस भक्त का नाम अज्ञात बताया गया है। किंतु वार्ता के प्रारंभ में ही भावप्रकाश के अंतर्गत उसे 'राजस भक्त' तथा

३२. गो० श्री व्रजभूषण शर्मा तथा द्वारकादास परीख: दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, तृतीय खंड (प्रथम संस्करण, २०१० वि०), शुद्धाद्वैत एकेडमी, कांकरौली, पृष्ठ ८०-८१।

उसका लीला का नाम 'कमलाकांता' उल्लिखित है।[33] ब्रज की रज को आँखों में अंजन रूप लगाकर घनआनँद के रूप को निहारने के लिये तत्पर कमला स्वयं कवि ही तो नहीं है--

कमला तप साधि अराधति है अभिलाष महोदधि भंजन कै।
हित संपति हेरि हिराय रही नित रीझ बसी मन रंजन कै।
तिहि भूमि की उरध भाग दसा जसुदा सुत के पद कंजन कै।
घन आनँद रूप निहारन कौं ब्रज की रज आँखिन अंजन कै॥
सुजानहित ४६७।

घन आनंद ने स्वयं गोवर्द्धन के नाम, अर्थ और गुणों को समझ लिया था। आनंदकर बादलों की वर्षा से तन और मन भीग गया था, तभी उसने अपनी रसना से गोवर्द्धननाथ जी का गुण बखान किया था :

श्री गोबरधन नाम गुण, सो रस ताको भाग।
महामधुर रसरासिकौं, पायौ पूरन भाग॥ ५५॥
सुख समाज गिरिराज को, रह्यौ दृगनि दरसाय।[34]
मन तन रस भीजे लसौं, आनँघन बरसाय॥ ५६॥ गिरिपूजा

तथा

गिरि गोबरधन छबि कछु बरनौं। पाऊँ नाम अरथ गुन सरनौं॥ ३॥
मन पाऊँ तब रसना आनौं। गोबरधन बर लहि गुन गानौं। ४॥ गिरिपूजा

गिरिपूजा के उपर्युक्त ३ और ४ वृत्त में 'गोबरधन' एक 'गिरि' के रूप में ही आया है। किंतु ५५ वें वृत्त में वह 'श्रीगोबरधन' बन गए हैं। ५६ वें छंद में आनँदघन के बरसने का उल्लेख भी है। आश्चर्य नहीं घन आनंद जी ने गुसाईं जी के चमत्कार वाले अपने अनुभव के उपरांत अपने मन में अपना नाम 'आनंदघन' ही धारण कर लिया हो तथा वे 'गिरिराज' के प्रति आदर-भिभूत हुए हों।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' वाला वृत्त और 'गिरिगाथा' से उद्धृत छंद इस बात के द्योतक हैं कि गुजरात[35] का वैष्णव स्वयं घन आनंद ही थे। नाम

३३. वही, पृष्ठ ३०।
३४. दीजै इन्ही बसानूँ झाँकी आनँदघन गिरधारी है॥ २०॥ इश्कलता
३५. (क) घन आनंद के काव्य में 'थौं', 'नें', 'छे' आदि शब्दों का प्रयोग उनके गुजराती ज्ञान का परिचायक है।

गुरु का उपदेश लेकर भी अस्थिर चित्त घनआनंद का मन भक्ति में लीन न हुआ तभी गोसाईं जी को आत्मचमत्कार का प्रदर्शन करना पड़ा। उससे घन आनंद बहुत प्रभावित हुए तथा ज्ञानदर्शक श्री गोवर्द्धन जी की सेवा में रहना स्वीकार किया।

घन आनंद (आनंद घन) की जाति

(क) कवि ने अपनी जाति का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। किंतु इतिहासग्रंथों में रायसूरतसिंह के आत्मज के नाम आनंदसिंह के साथ 'लाला' शब्द जुड़ा हुआ है। मैंने स्वयं भी बनारस और इलाहाबाद में कायस्थों के लिए 'लाला' शब्द का प्रयोग होते सुना है, संभवतः लेखनकार्य में सिद्धहस्त होने के कारण उन्हें संमानसूचक शब्द 'लाला' से विभूषित किया जाने लगा हो, जैसे आजकल सरकारी कर्मचारियों के लिए 'बाबू' शब्द प्रचलित है। उपलब्ध प्रमाणों से आनंद सिंह ही घन आनंद नाम से प्रसिद्ध कवि सिद्ध होते हैं, तब उन्हें कायस्थ मानना ही पड़ेगा।

(ख) इतिहासज्ञों ने रायसूरतसिंह को 'मुलतानी' लिखा है। घन आनंद की 'इश्कलता' और 'पदावली' लेंहदी-प्रधान रचनाएँ हैं। (उनकी पंजाबी भाषा पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।) इससे सिद्ध होता है कि उनका पंजाब से वंशगत संबंध अवश्य था, कवि पंजाब के मुहावरों और कहावतों से भी परिचित रहा होगा। संभव है उसने पंजाबी की निम्नोक्त कहावत—

पढ़ गया कायथ, नहीं तों भट्ठी के लायक

का रूपांतर अपनी भाषा में इस प्रकार कर लिया है —

नीरस को रसिकाई कहा सब ही विधि है सठ रे भठ भुंजन
॥ ४७६ ॥ सु० हित

पंजाबी कहावत का अर्थ है—पढ़ लिख जाने पर मनुष्य कायस्थ (विद्वान) बन जाता है, किंतु अपढ़ भाड़ ही झोंकता (निकम्मा) रहता है। घन आनंद भी कहते हैं जबतक गोपियों के रस का चस्का नहीं लग जाता तबतक मन खाली रहता है। अरे नीच ! नीरस की रसिकता बिल्कुल (सब ही बिधि) भड़ भुंज ('भठ भुंजन' का पंजाबी रूप) के समान है :

(ख) 'राय सूरत सिंह' शीर्षक अनुच्छेद से भी घन आनंद का अपने पिता सूरत सिंह के साथ विदिशा वाले मार्ग से महाराष्ट्र तथा तदनंतर गुजरात-गमन का साक्ष्य मिलता है।

गोपिन के रस को चसको जब लौं न लग्यौ तब लौं मन गुंजन।
नीरस की रसिकाई कहा सबही बिधि है सठ रे भठ भुंजन
॥ ४७६ ॥ सुजानहित

असंभव नहीं सुजान की विरक्ति के कारण अपने आप पर अभिशाप बरसाते हुए कवि के मुख से स्वभावतः ही यह शब्द निकल पड़ा हो जो पंजाबी कहावत के अनुरूप भी पड़ा हो और सांकेतिक ढंग से कवि ने जाति की सूचना भी दे दी हो।

घन आनंद का निवासस्थान

घन आनंद के पिता सैनिक अधिकारी थे। संभव है युद्धों में वे मुगल सेना के साथ विभिन्न स्थानों पर जाते रहे हों। पिता के स्थानांतरण के साथ ही घन आनंद को भी कई जगह जाना पड़ा हो और बाद में ये लोग स्थायी रूप से दिल्ली आ बसे हों। घन आनंद के पिता राय सूरत सिंह के नाम के साथ 'मुलतानी' शब्द जुड़ा देख कर यह तो निश्चित हो जाता है कि घन आनंद का वंशगत संबंध मुलतान (पश्चिमी पंजाब) से था। उनके घर में परस्पर वार्तालाप में 'लँहदी' (जिसे 'मुलतानी' भी कहते हैं) का प्रयोग होना स्वाभाविक ही है। तभी कवि 'इश्कलता' एवं 'पदावली' के कई एक पदों में लँहदी के प्रयोग में सफल हुआ। अतः डा० गौड़ का यह मत कि—पंजाबी आदि भाषा के प्रयोग में कोई साहित्यिक सूक्ष्मता तो लक्षित नहीं होती। इससे यही अनुमान करना पड़ेगा कि ये भाषाएँ किसी कौतुकी ने उनका विशेषज्ञ न होने पर भी काव्य में प्रयुक्त की हैं।[३६]— अधिक सारयुक्त नहीं है। घन आनंद अपने लँहदी प्रयोगों में पंजाब में रह कर काव्यरचना करने वाले पंजाबी कवियों से किसी भी प्रकार पश्चात्पद नहीं हैं। घन आनंद के लँहदी प्रयोग व्याकरणसंमत हैं। कुछेक उदाहरण —

सर्वनाम—मैंडा (इश्क० २३), असाडी (इश्क० ७), तुसाडी (इश्क० १३), तैं (इश्क० १६) असाँ (पदा० ४४ तथा इश्क० २०), असाने (इश्क० १८)।

प्रश्न वाचक सर्वनाम—कै (पदा० ४३६), की (इश्क० १८)।

३६. डा० मनोहर लाल गौड़ : घनानंद और स्वच्छंद काव्य धारा, पृष्ठ ११०।

क्रिया · पाँवँदा (पदा० १३२) छिकँदा (पदा० ५४७), अखाँवदा (पदा० ८८२), करंदे (इश्क० ६), लग्गा (इश्क० २६), वेखलामी (पदा० ८७०)।

कारक रूप – (१) कर्ता—रब्बे (रब्बे = भगवान ने; पदा० २१२)
(२) कर्म – नूँ (इश्कलता ३६, ४०)।
(३) करण—सूँ (इश्कलता २)।
(४) संबंध – दा (इश्क० ६), दे (इश्क० ११), दी (इश्क० २५) डा (मैं डडा, तैं डडा में—इश्क० ३०)।
(५) अधिकरण—विच (इश्क० ४०)।

क्रियाविशेषण किथाँई (पदा० ३६६), जित्थूँ, तित्थूँ (इश्क० ११), कदी कदी (इश्क० २१)

संबंधबोधक अव्यय — बल (इश्क० ४४),

वचनरूप—अँक्खीँ (पदा० ३६६), पपीहौं (पदा० २१२), गरीबाँ (पदा० ८८३) 'ड़' के स्थान पर 'ड' का प्रयोग लेंहदी की निजी विशेषता—चम्मड (चम्मड़ नहीं, पदा० ४४), मुखडा ('मुखड़ा' नहीं; पदा० ५४७), मोडे (मोड़े नहीं; पदा० ५४७)।

सुजान · इसे घन आनंद की प्रेयसी बताया जाता है। किंवदंती है कि इसी के अनुरोध से घन आनंद ने मुहम्मदशाह की सभा में ध्रुपद गाया था। डा० गौड़ ने घन आनंद के काव्य के व्यापक अध्ययन से इसके व्यक्तित्व की खोज करने की चेष्टा की है। उनकी उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं :

(क) घन आनंद की रचनाओं में सब मिलाकर ३५१ बार 'सुजान' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिनमें (१) सुजान : ३८२ बार (२) जान : १४८ बार (३) जानराय : १० बार (४) जानी : ८ बार (५) जानमनि : २ बार (६) ज्यानी : १ बार।

(ख) 'सुजान और उसके पर्याय ११ प्रकार के अर्थ अभिव्यक्त करते हैं : श्रीकृष्ण के अर्थ में (२) राधा के अर्थ में (३) राधा और कृष्ण दोनों के अर्थ में (४) प्रिय पुरुष के अर्थ में (५) प्रेयसी के अर्थ में (६) ऐसे विशेषण रूप में जो स्त्री और पुरुष दोनों के लिये प्रोक्तव्य हो (७) ज्ञानी या चतुर के अर्थ में (८) घन आनंद या आनंद घन विशेषण रूप में (९) 'जान' अर्थात् जीवन के दाता के रूप में (१०) प्रेमी के अर्थ में (११) व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में।

किंतु इनसे किसी ऐतिहासिक तथ्य की उपलब्धि गौड़ जी को नहीं हुई। उन्होंने ब्रजभारती, आषाढ़, संवत् १९९८, पृष्ठ ८ पर प्रकाशित एक पद्य में सुजान के विषय में प्रयुक्त इन शब्दों 'फिर सुजान महबूब खूब से आनंदघन मन भाया' से 'इश्कलता' के 'जिगर जान महबूब अमाने की बेदर्दी दैंदा है।' आदि स्थलों से तुलना करके सुजान के घन आनंद से प्रेम की स्थापना की है। भड़ौवाकार की व्यंग्योक्तियों से भी घन आनंद का सुजान के प्रति प्रेम प्रकट होता है।[३७]

घन आनंद के इस अनुचित प्रेम के कारण ही ब्रजनाथ गोसाईं ने इसकी उपेक्षा की थी, (ब्रजनाथ शीर्षक अनुच्छेद देखिए)। प्रेमपत्रिका के ९८ वें पद में कवि ने 'जासों अनबन मोहि, तासों बनक बनी तुम्हें' के द्वारा संभवतः मुहम्मदशाह रंगीले की ओर ही संकेत किया है।

घन आनंद से संबंधित ऐतिहासिक व्यक्ति

(क) सिरोमनिदास—ये सैयद भ्राताओं (विशेषकर अब्दुल्ला खाँ) के वकील थे। ये जाति के कायस्थ थे। संभव है ये राय सूरतसिंह और लाला आनंदसिंह के संबंधी अथवा संरक्षक रहे हों। इसी कारण कवि उनका उपकृत रहा और उनका स्मरण अपने काव्य में भी करता रहा हो। सैयदों के पतन के समय राय सिरोमनिदास साधु का वेश धारण करके भागे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सैयदों के निधन के अनंतर सिरोमनिदास ने वृंदावन में आश्रय लिया था एक स्थलपर घन आनंद ने 'साधु सिरोमनि' को स्मरण किया है, यथा—

> साँसहि साधि सुधारि महागुन भाव अनेक लै एक से पोहै।
> दै मन मंजु सुमेर तहाँ बिधि ओर गतागत कै न बिछोहै।
> फेर परै न कहूँ निज नाम सों फेरि अनूपम रूपहि जो है।
> या बिधि जो सुमिरै घन आनँद मो मत साधु सिरोमनि सो है॥
>
> —सुजानहित ४०१।

बहुत से पदों में 'सिरोमनि' के साथ 'रसिक' (ब्रजव्यवहार ११९; सुजानहित २०८; कृष्णकौमुदी ५६, प्रेमपद्धति ३९), 'चतुर' (कृष्णकौमुदी १२; भावना प्रकाश ४९) की उपाधि भी जोड़ी गई है। 'विचारसार' और 'मुरलिकामोद' तो स्पष्टतः सिरोमनि (दास) को समर्पित ही हैं—

३७. डा० मनोहरलाल गौड़ : घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा, पृ० ४०-४४।

१. विचारसार

सब विचार को सार है, या निबंध को गान।
श्री गोपी पद रेनु बल, बानी कियौ बखान ॥ ८७ ॥
निरवधि वस्तु अगम्य श्रति, सब विचार तें दूरि।
रसिक सिरोमनि कृपा तें, लही सबीवन मूरि ॥ ७८ ॥

२. मुरलिकामोद

सुघर सिरोमनि राग रच्यो है। मुरली सों अनुराग मच्यौ है ॥ ६ ॥

सिरोमनि (दास) को 'रसिक' की उपाधि किसने दी, इसका संकेत भी उपलब्ध है—

रिनी भएँ रस को बस राख्यौ। रसिक सिरोमनि यौं अभिलाख्यौ ॥३६॥
सो धौं कहो कौन छ्वै सकै। याको अधिकारी ह्वै सकै ॥४०॥
गोपिनि हितगति चितहि बिचारै। परम प्रेम पूरन पन धारै ॥४१॥
गहै सु गति गोपिन जो गही। या ब्रजरस को साधन यही ॥४२॥

× × × ×

रसिक मुकुटमनि इनकों नवै। जु कछु करै सोई संभवै ॥५१॥
महा उग्र ऊरध रस पदवी। ब्रजनायक बिन काहू न दवी ॥५२॥

— प्रेमपद्धति

उपाधिदाता संभवतः आनंदघन (घन आनंद) की रचनाओं के संग्रहकर्ता एवं उनके प्रशंसक ब्रजनाथ ('ब्रजनायक' पर्यायवाची नाम) हैं और 'रसिक मुकुटमनि' चूड़ामनि जाट हैं।

(ख) चूड़ामनि—औरंगजेब के प्रशासनिक और धार्मिक दमन के कारण मथुरा जिले के विपन्न हिंदुओं का संरक्षण जाटों के नेता राजराम ने (सन् १६८५) संभाल लिया था।[१८] उसके निधनोपरांत चूड़ामनि जाटों का नेता बना। सैयदों के पतन के समय सूरतसिंह और सिरोमनि दास के साथ ही चूड़ामनि भी सैयदों का समर्थक था। आश्चर्य नहीं चूड़ामनि के जीवनकाल (१७२' ई० में मृत्युप्राप्त) में कवि घन आनंद का चूड़ामनि से संबंध रहा हो। सिरोमनि (दास) सैयदों का अंतरंग (वकील होने के कारण) था ही, उसके माध्यम से चूड़ामनि अपना काम निकालता रहा हो और उनका सँमान करता हो।[१९] सैयदों के पतन के समय राय सिरोमनिदास के विपत्काल में चूड़ामनि ही

१८. डा० हरिराम गुप्त : मराठाज ऐंड पानीपत (पंजाब यूनिवर्सिटी; चंडीगढ़, १९६१), पृ० ४२।

१९. देखिए उपर्युक्त में उद्धृत 'प्रेमपद्धति', वृत्त संख्या ५१।

आश्रयदाता बना हो तो विस्मय की बात नहीं है। संभवतः सिरोमनि से घनिष्ठता-वश अथवा अपने प्रति किसी विशेष उपकार के कारण अथवा चूड़ामनि के वंशजों (विशेषतः सूरजमल) से उपकृत होकर चूड़ामनि जाट को भी राय सिरोमनिदास के साथ ही याद करता रहा हो।[४०] फिर 'चूड़ामनि' और 'सिरोमनि' तो एक दूसरे के पर्याय भी हैं, अतः उन्होंने एक ही शब्द ('चूड़ामनि' अथवा 'सिरोमनि') से या इसी शब्द के अन्य पर्यायों (सिरमौर, मुकुटमणि प्रभृति) से दोनों को स्मरण कर लिया हो।

(ग) सैयद भ्राता—इतिहासकार बताते हैं कि सैयदबंधु भारतीय परंपराओं में विश्वास करते थे। सैयद अब्दुल्ला खाँ तो 'बसंत' और 'होली' का त्योहार भी मनाया करता था।[४१] घन आनंद के काव्य में सैयद भाइयों का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है। किंतु राय सूरतसिंह के पुत्र लाला आनंदसिंह से (जिनका कवि घन आनंद के नाम से प्रसिद्ध होना हम सिद्ध कर रहे हैं) उनका संबंध निश्चित रूप से था। घन आनंद के काव्य में 'सरस बसंत' नामक एक स्वतंत्र कृति है। इसके अतिरिक्त पदावली में 'बसंत' पर १५ पद तथा 'होली' पर १३० पद रचे गए हैं। 'सुजानहित' और 'प्रेमपत्रिका' में भी 'होली' और 'बसंत' से संबंधित वृत्त यत्र तत्र दिखाई पड़ते हैं। घन आनंद की कृतियों में अन्य त्योहारों (हर-तालिका तीज, दिवाली आदि) पर एक दो से अधिक पद नहीं मिलते। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि स्वयं भी सैयदों और राजकर्मचारियों के साथ 'होली' और 'बसंत' के समारोहों में भाग लेता रहा है और अपने काव्यकाल में उसे रह रह कर अपने उन्हीं आनंदमय दिनों का ध्यान[२] आता रहा। इसी लिये वह कभी स्पष्ट रूपेण और कभी राधाकृष्ण के माध्यम से अपने हार्दिक उद्गार प्रकट करता रहा।

४०. कुंज - धरनि - मंडन मृदुल, मंजुल चिह्न समेत।
रसिक सिरोमनि पद कमल, बिरह ताप हरि लेत ॥ ७९ ॥
चरन चारु ब्रजचंद के, बृंदाबिपिन बिहार।
बंदन करि जासौं सदा, गोपीपद रज सार ॥ ८० ॥
एक प्रान मन एक ही, एक बैस इक सार।
रस चूड़ामनि गाइयै, राधा नंदकुमार ॥ ८१ ॥
—कृष्णकौमुदी

४१. विलियम इरविनः दि लेटर मुगल्स, भाग २ (१९२२ ई०), पृ०९९-१०० ।

४२. सुजानहित, ४११ ।

(घ) व्रजनाथ—ये 'घनानंद कवित्त' के संपादक तथा घन आनंद के प्रशंसक थे। डा० गौड़ ने 'शिवसिंह सरोज' के साक्ष्यानुसार इन्हें 'रागमाला' का रचयिता और घन आनंद की व्रज एवं वृंदावन के माहात्म्य से संबद्ध रचनाओं का प्रेरक बताया है। इनका कविताकाल संवत् १७८० है।[४३] ये मथुरा वृंदावन के गोसाँई थे।[४४]

श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र संपादित 'घन आनंद' ग्रंथ की 'प्रशस्ति' शीर्षक रचना व्रजनाथ कृत है। व्रजनाथ ने इसके अंतर्गत बताया है कि उन्हें इन पद्यों की रक्षा या संग्रह करने में बड़ा कष्ट हुआ है। उन्हें इस कार्य के निमित्त अपनी लाज, बड़ाई तथा स्वभाव को भी खोना पड़ा। कष्ट के इन हेतुओं की कल्पना डा० गौड़ ने इन तर्कों से की है[४५]—

१. एक तो आनंदघन की मृत्यु अकस्मात् हुई थी। संभव है उनकी रचनाएँ एकत्र न रही हों। आनंदघन जैसे प्रेमोन्मत्त कवि ने अपनी रचनाओं की सुरक्षा की उपेक्षा की हो और उनके जीवन के उपरांत संग्रह का कार्य कठिन हो गया हो। व्रजनाथ की यह उक्ति कि 'कहै व्रजनाथ बहु जतननि आए हाथ' ऐसे ही किसी कष्ट की ओर संकेत करती है।

२. दूसरा कष्ट यह भी हो सकता है कि कवित्तों में सुजान की छाप होने से वे वेश्या की प्रशंसा के समझे जाते हों और कविसमाज में इसलिये उनका आदर न होता हो। इस स्थिति में भी संपादक को संग्रह करने में कष्ट हो सकता है।

३. यह भी कल्पना की जा सकती है कि लौकिकानुभूति के प्रेम के पद्यों को कवि ने आरंभ में लिखा हो और संत होने के बाद सीधी सरल वाणी में गेय पद तथा लीलानिबंधों की ही रचना करना ठीक समझकर पहली कविता की उपेक्षा कर दी हो।

उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर गौड़ जी का पहला तर्क स्वीकार्य नहीं है। अंतिम दो अवश्य ही सारयुक्त हैं। अंतःसाक्ष्यों और बहिःसाक्ष्यों के माध्यम से हम श्री व्रजनाथ का जो व्यक्तित्व संकलित कर पाए हैं उसके आधार पर व्रजनाथ जी के कष्टों के कतिपय अन्य कारण भी विदित होते हैं—

४३. घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा (सं० २०१५), पृ०, ३३।
४४. नित सुहाग पागी रहैं व्रजनाथ गुसाँई।
आनँदघन उनए रहौ निसिबासर झाँई ॥ २४ ॥—प्रेमपत्रिका
४५. घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा, पृ० ५७।

ब्रजनाथ भी कवि घन आनंद के काव्य के प्रशंसक मात्र ही नहीं थे। वे सब ओर से निराश और रामआसरे जीवनयापन करनेवाले घन आनंद के अनायास ही आश्रयदाता बन गए थे।[४६] संभवतः सिरोमनिदास कायस्थ (सैयदों के वकील) इनके यहाँ ही आश्रित थे, जिन्हें ब्रजनाथ (ब्रजनायक) ने रसिक की उपाधि दी थी।[४७] घनआनंद की बड़ी बदनामी हुई थी।[४८] उन्हें भय था कि कहीं कोई

४६. सब ओर तें ऐंचि कै कान्ह किसोर मैं राखि भलें थिर आस करैं।
ब्रजनाथ प्रियानि कृपानि समोय सदा मन कौं अनायास करैं।
घनआनँद छाय रहे निसिद्यौस मनोरथ रास विलास करैं।
ब्रज बीथिन भोर निसीथिनी सो उनमाद सवाद सौं बास करैं॥६४॥
- प्रकीर्णक

४७. देखिए 'सिरोमनिदास' वाला अनुच्छेद।

४८. 'कायथ आनंदघन महा हरामजादा हौ। सुभज की कटा मैं आयौ। परंतु अपजस वाकौ थिर है। ताकौ बर्नन—

(२)

करै गुरु निंदा वह हुरकिनी को बंदा महा,
निरघिनी गंदा खात पानीर औ नान है।
बैन को चुरावै वाकौ मजमून लावै कूर,
कविता बनावै गावै रिजौली सी तान है।
सुरा घट सोखी देह मांस ही सौं पोखी, बिप्र
गैयन को दोषी रूप धरे अभिमान है।
पाप को भवन, करै अगम गमन ऐसो,
सुखिया आनंदघन जानत जहान है।

(३)

डफरो बजावै डोम ढाढी सम गावै, काहू,
तुरकै रिझावै तब पावै झूठी माम है।
हुरकिनी सुजान तुरकिनी को सेवक है,
तजि राम नाम वाकों पूजै काम धाम है।

घनआनंद के काव्य में सुजान के व्यवहार हेतु जिन वस्तुओं के भाव्य से उन्होंने ईर्ष्या व्यक्त की है, भड़ौवाकार ने उन सभी को व्यंग्योक्तियों का आधार बनाकर उन्हें सुजान के अजारबंद की जूँ, उसका पीकदान आदि भी कह दिया है।—'घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा, पृ० ७–१० तथा श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र संपादित 'घन आनंद', पृ० ६६–६७)।

उन्हें पहचान न ले।[४९] किंतु सारे ग्राम के स्नेहभाजन और यशोदानंदन के समान यशस्वी ब्रजनाथ उनके आश्रयदाता बने।[५०] ब्रजनाथ स्वभाव के बड़े कोमल हैं, बिनती करने पर शीघ्र ढल जाते हैं, डूबते का सहारा हैं।[५१] उनके कारण कवि का बाल बाँका न हुआ।[५२]

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट किया गया है कि कवि गुजरात से लौटने पर गोबर्द्धननाथ जी की सेवा में रहा था। संभवतः वहीं पर अस्थिरचित्त

४९. वही आवै ब्रजू प्यारे अँदेसौ।
रहौ पहचान को ही मैं न लेसौ ॥ ५५ ॥—वियोगबेलि

५०. (क) ब्रजू ब्रजनाथ गोपीनाथ कैसे।
करै बिरहा हमारे हाल ऐसे ॥ ३२ ॥
अचंभो है अचंभो है महा जू।
सनेही ह्वै कहौ कीनौ कहा जू ॥ ३३ ॥
हियो ऐसो कठिन कब तें कियो है।
बली अबजान मारन पन लियो है ॥ ३४ ॥
करौ अब सो तुम्हैं आछी लगै हो।
जसोदानंदन जैसें जस जगै हो ॥ ३५ ॥
तिहारे नाम के गुन बाँधि डारी।
बिचारी जू बिचारी है बिचारी ॥ ३६ ॥
दया दिखराय बिनती कीजियै जू।
परे पायनि हियें धरि लीजियै जू ॥ ३७ ॥
भरोसो है भरोसो है भरोसो।
रही ब्रत धरि ब्रजू अब तौ परोसो ॥ ३८ ॥—वियोगबेलि

(ख) दई मारीनि की अब दया आनौ।
परैं पा दूरि तें ब्रजनाथ मानौ ॥ ६७ ॥
सनेही हौ तुम्हैं सब गाँव जानै।
सबै मिली रावरे गुन कों बखानै ॥ ६८ ॥—वियोगबेलि

५१. जमुना ढरैं ढरत ब्रजनाथ बहत जानि कै गहत सुहाथ ॥६०॥—यमुनायश

५२. बवन सहैं ते और सहैं परपीर कों।
धनि धनि हो ब्रजनाथ तिहारे धीर कों ॥ ४ ॥
सुखी हौ सुखदैन हमारी हम भरैं।
बाँको बार न होइ असीस सदा करैं ॥ ५ ॥—प्रेमपत्रिका

घन आनंद किसी को अंतरंग समझकर उससे सुजान की चर्चा कर बैठा अथवा उसके पूर्वरचित (दिल्ली से गुजरात होकर वृंदावन लौटने से पहले के) सुजान-विषयक कवित्त किसी मनचले के हाथ लग गए (जिसकी अधिक संभावना है, क्योंकि महौवाकार ने कवि द्वारा उल्लिखित प्रसंगों को ही व्यंग्योक्तियों का विषय बनाया है) जिसे भड़ुओं ने घनआनंद की अकीर्तिगाथा का मसाला बनाया। प्राणों की रक्षा के भय से कवि को आश्रय ढूँढ़ना पड़ा। दैवयोग से पुराने परिचित सिरोमनिदास के कारण उसे ब्रजनाथ के यहाँ आश्रय मिल गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने यहाँ घनआनंद को शरण देकर भी ब्रजनाथ ने घनआनंद की बदनामी का कारण—उसके सुजानसंबंधी पद्यों—की उपेक्षा की और उसे सुजान को भूल जाने का उपदेश दिया। किंतु कवि तो सुजान के बिना अपने प्रेम की बेल को सूखती देख रहा था, उसे विस्मृत करना उसके लिये कठिन था—

> ब्रजनाथ कहाय अनाथ करी, कित है हित रीति मैं भाँति नई।
> न परेखो कछू पै रह्यौ न परै, ठकुराइति प्रीति अनीति भई।
> घनआनँद जानहिँ को सिखवै, सुखई रस सींचि जु बेलि बई।
> सुधि भूलि सबै हिय सूल सलै हम सों हरि ऐसे भए हैं दई ॥४०६॥
> —सुजान हित

कालांतर में अनुचित प्रेम के कारण ठुकरानेवाले ब्रजनाथ जी ने कवि के सुजानप्रेम की अनन्यता पहचानकर घन आनंद के इच्छानुसार सुजान के नाम प्रेम पत्र ('प्रेमपत्रिका' नामक रचना में संकलित वृत्त) भी भिजवाया[५३] जिसमें यह उलाहना दिया गया था कि तुम्हारी मैत्री उसी व्यक्ति से है, जिससे मेरी अनबन है।[५४] तिसपर भी सुजान ने पत्र को प्रेमपूर्वक सिर आँखों से लगाया, चूमा, छाती से लगाया और प्रेमाश्रुओं से उसे भिगो दिया। ये तथ्य संदेशवाहक

५३. ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमपत्रिका के पहले पद के 'जान्ह' (सुजान) को बाद में 'कान्ह' (कृष्ण का द्योतक) बना दिया गया है। तीसरे वृत्त से स्पष्ट है कि यह पत्रिका 'सुजान' को ही संबोधित थी। ब्रजनाथ ने सुजान के कारण कवि की बदनामी सुनकर भी 'प्रेमपत्रिका' भिजवाने का काम बड़े धैर्य से किया।—प्रेमपत्रिका, ४।

५४. जासौं अनबन मोहि, तासौं बनक बनी तुम्हैं।
हियो परेखनि पोहि, कहा कुलावल गुन भरे ॥ १८ ॥—प्रेमपत्रिका

ने आकर बताए होंगे, जिन्हें कवि ने बाद में पद्यबद्ध कर दिया।[५५] ऐसा ज्ञात होता है कि सुजान ने घिघियाते हुए अधीर कवि को धैर्य बँधाने के लिये यह सवैया लिख भेजा—

> बेदहू चारि की बात कों बाँचि पुरान अठारह अंग में धारौ।
> चित्रहू आप लिखै समझै कवितान की रीति में बारतैं पारौ।
> राग को आदि बिती चतुराई सुजान कहै सब याही को लारौ।
> हीनता होय जो हिम्मत की तो प्रवीनता लै कहा कूप में डारौ॥
> —सुधासर संग्रह, पन्ना, २३४ (ना० प्र० सभा, खोज विभाग)

संभवतः सुजान के इस सवैये ने कवि के जीवन में आमूलचूल परिवर्तन ही कर दिया। श्री गोवर्द्धननाथ जी का सेवाकार्य सौंपनेवाले गोसाँई जी भी जो कार्य न कर सके, वही कार्य सुजान के उपदेश ने कर दिया। कालांतर में कवि ब्रज की गोपियों के प्रेम को ही प्रेम का सार समझने लगा, उसे वैसा ही ज्ञान हुआ जैसा उद्धव को।[५६]

५५. मित्र के पत्रहि पावत ही उर काम चरित्र की भीर मची है।
सीस चढ़ावति आँखिनि लावति चुंबन की अति चोप रची है।
हाय कही न परै हित की गति कौन सवाद अचौनि अची है।
छाती सौं छुवावत ही घनआनँद भीजि गई दुति पाँति नची है॥ ५६॥
—प्रेमपत्रिका

५६. ऊधो बिधि, ईरित भई है भाग कीरति,
लही रति जसोदा, सुत पायनि परस की।
गुलम लता ह्वै सीस धरयौ चाहै धूरि जाकी,
कहियै कहा निकाई महिमा सरस की।
झूम्यौई रहत सदा आनँद को घन जहाँ,
चातक भई है मति माधुरी बरस की।
आँखिनि लगी है प्रीति पूरन पगी है अति,
आरति जगी है ब्रजभूमि के दरस की॥ ५७॥
गोपिनि के आँसुनि सौं सींची अति लोनी लगैं,
देखि पाई भाग जागे जीवन की मूरि मैं।
× × × ×
सीसहि चढ़ाऊँ घनआनँद कृपा तें पाऊँ,
प्रेमसार धरयो है समोय ब्रज धूरि मैं॥ ५८॥—प्रेमपत्रिका

व्रजनाथ के यहाँ सिरोमनिदास तथा तदनंतर घन आनंद के शरण ग्रहण करने का आखिर कोई कारण तो होगा ? उत्तर स्वरूप यही कहा जा सकता है कि औरंगजेब की दमननीति के कारण, मराठा जाट और सिक्ख, हिंदू धर्म की रक्षा के लिये उठ खड़े हुए थे। धार्मिक कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी सतनामियों ने और सिक्ख गुरुओं विशेषतः गुरुगोविंदसिंह के नेतृत्व में सिक्खों ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया और मुगलों के विरुद्ध युद्ध में भाग भी लिया।

मुगलवंश के अंतिम निर्बल शासकों (विशेषतः औरंगजेब के परवर्ती) से रुष्ट शाही अधिकारी अपना मतलब गाँठने के लिये कभी मराठों, कभी जाटों और कभी गोसाइयों से गठजोड़ कर लेते थे। प्रमाणस्वरूप, नादिरशाह के आक्रमण के अनंतर मुगल साम्राज्य के विध्वंसक थे भरतपुर के सूरजमल (चूड़ामणि जाट के वंशज) एवं योद्धा साधु राजेंद्रगिरि गोसाँई। इन दोनों ने सम्राटविरोधी शाही वजीर सफदर जंग का साथ दिया था। राजेंद्रगिरि तो सफदर जंग की ओर से लड़ता हुआ ही मृत्यु को प्राप्त हुआ।[५७]

जाटों और गोसाइयों का क्षेत्र मथुरा और आगरा के आसपास था। यही लोग विपदाग्रस्त हिंदुओं के शरणदाता थे। सैयद शासनकाल से संबद्ध अपने मित्र चूड़ामनि के कारण ही सिरोमनिदास का व्रजनाथ गोसाँई से संपर्क हुआ होगा। आश्चर्य नहीं, चूड़ामनि के कालकवलित होने पर गोसाँई जी ही सिरोमनिदास के आश्रयदाता बने हों। सिरोमनिदास से पूर्वपरिचय होने के कारण उन्हीं के माध्यम से घनआनंद को पुनरुज्जीवन मिला[५८] तथा आश्रयदाता बनने पर व्रजनाथ भी कवि के लिये श्रद्धाभाजन बन गए। घनआनंद ने अपने इसी भाव की अभिव्यक्ति 'व्रजनाथ' (व्रजचंद, व्रजनायक, व्रजमंडन प्रभृति पर्यायों से) तथा 'सिरोमनिदास' एवं 'चूड़ामनि' के भी (कहीं पर्यायों द्वारा, जैसे 'मुकुटमनि' में दोनों का नाम निहित है) स्मरण द्वारा किया है। उदाहरण—

(क) प्रकटी अनुभवचंद्रिका, भ्रम तम गयौ बिलाय।
व्रजमंडन की कृपा तें, रह्यौ मोदघन छाय ॥ ५४ ॥
व्रजबन लीला माधुरी, निरवधि रस को सार।
रसिक मुकुटमनि कृपा तें पायौ प्रान अधार ॥ ५५ ॥

—अनुभवचंद्रिका

५७. यदुनाथ सरकार : फाल आव मुगल एंपायर, खंड १ (सन् १६३२ संस्करण), पृ० ४९३।

५८. 'रसिक सिरोमनि तें लही सजीवन मूरि' ॥ ८८ ॥—विचारसार

(ख) कुंजन धरनि मंडन, मंजुल चिह्न समेत।
रसिक सिरोमनि पद कमल, बिरह ताप हरि लेत ॥ ७६ ॥
चरन चारु ब्रजचंद के, वृंदाबिपिन बिहार।
बंदन करि चाखों सदा, गोपीपद रज सार ॥ ८० ॥
एक प्रान मन एक ही, एक बैस इक सार।
रस चूड़ामनि गाइयै, राधा नंदकुमार ॥ ८१ ॥
× × × ×
कृस्नकौमुदी नाम यह, मोहन मधुर प्रबंध।
सरस भाव कुमुदावली, प्रफुलित परम सुगंध ॥ ८४ ॥
—कृष्णकौमुदी

घनआनंद के दीक्षागुरु

'प्रेमपत्रिका' का कोई संतोषप्रद उत्तर न मिलने के कारण संभवत: कवि सुजान की ओर से उदासीन होने लगा। दिखित्ती के कारण कभी कभी वह पद्य-रचनावश सुजान का भी स्मरण कर बैठता। किंतु समय की गति के साथ ही वह विरक्त होकर निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित होने के लिये प्रवृत्त हुआ। 'परमहंस वंशावली' से ज्ञात होता है कि 'शेष' नामक किसी महानुभाव से इन्हें निंबार्क परंपरा की रीति का पता चला। आचार्य मिश्र के अनुसार ये सज्जन श्री जयराम जी शेष हैं, जो श्री गोविंददेवाचार्य जी के समय सं० १८०० से १८१४ तक श्रीनिंबार्कीय मठ मंदिरों का प्रबंध देखते थे।[५१] किंतु मिश्रजी एवं गौड़ जी ने श्री वृंदावन देवाचार्य जी (श्री गोविंददेवाचार्य के पूर्ववर्ती) को ही घनआनंद का दीक्षागुरु माना है, श्री गोविंददेवाचार्य जी को नहीं। कवि की जन्मतिथि तथा निधनतिथि से संगति बैठाने के हेतु ही उन्होंने यह विकल्प प्रस्तुत किया है—

(क) ··· घनआनंद का निधनसंवत् १८१७ है। इनका जन्म कब हुआ या ये वृंदावन कब पहुँचे इसका संकेत कुछ भी नहीं मिलता। इतिहास ग्रंथों में इनका जन्मसंवत् अनुमान के सहारे १७४६ माना गया है। परमहंस वंश के निंबार्क संप्रदायाचार्य श्री वृंदावनदेव का समय सं० १७५६ से १८०० तक है। उनसे दीक्षा लेना अधिक से अधिक १७५६ तक ही संभव हो सकता है। यदि उक्त अनुमित जन्मकाल ठीक माना जाए तो यह भी मानना पड़ेगा इनकी वय दीक्षा के समय १३ वर्ष की थी, जो इनके जीवनवृत्त को देखते असंभव है। वृंदावन पहुँचने के समय इनकी वय २५-३० की अवश्य माननी पड़ेगी।

५१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : घन आनंद, भूमिका, पृ० ७५।

अतः इनका जन्मसंवत् १७३० के आस पास संभाव्य है।[६०]

(ख) '...समय क्रम से भी वृंदावनदेवजी का ही दीक्षागुरुत्व संभव लगता है। इनका समय संवत् १८०० तक है। गोविंददेवजी संवत् १८९४ तक विद्यमान हैं। आनंदघन जी की सं० १८१७ में मृत्यु हुई। जन्मसंवत् १७३० के लगभग अनुमित किया जाता है। गोविंददेवजी से दीक्षा लेने का अर्थ ७० वर्ष की आयु में दीक्षा लेना है, जो उचित नहीं जान पड़ता। अपनी युवावस्था में इन्होंने दिल्ली छोड़ी थी। ३० वर्ष की आयु भी उस समय पर रही होगी तो १७६० में वृंदावनदेवजी ही गद्दी पर विराजमान थे। इसी समय या इसके आसपास इन्हें वृंदावनदेवजी ही गद्दी पर विराजमान मिल सकते थे अतः उन्हीं से इन्होंने दीक्षा ली होगी'।[६१]

(ग) 'भोजनादिधुन' नामक एक फुटकल रचना, जो आनंदघन विरचित है, प्राप्त हुई है। उसकी गुरुपरंपरा 'परमहंसावली' के समान प्रारंभ होकर गोविंददेवजी तक समाप्त होती है। किंतु उसमें एक अर्धाली के अंतर्गत वृंदावनदेवजी को—

'श्री वृंदावनदेव सनातन। चातक रसिकन को आनंदघन'।

कहकर उनकी प्रशंसा की गई है। किंतु श्री गोविंददेवजी का केवल नाम स्मरण किया गया है।[६२]

दोनों विद्वानों के तर्क से एक बात समझ में नहीं आती कि वे घन आनंद को निंबार्कीय परंपरा की रीति सिखलानेवाले मानकर भी श्री जयराम शेष के प्रभावशाली व्यक्तित्व को स्वीकार क्यों नहीं करते? शेषजी का प्रभावकाल सं० १८०० से १८१४ तक (सन् १७४३-१७५७ है) जब कि वे निंबार्कीय मठ-मंदिरों के प्रबंधक थे। आश्चर्य नहीं कि गोवर्धननाथ जी का सेवाकार्य त्यागनेवाला तथा सुजान वेश्या के प्रेम के कारण बदनाम घन आनंद को श्री वृंदावनदेवाचार्य ने अपने शिष्यत्व में लेना स्वीकार न किया हो। किंतु उनके निधनोपरांत प्रभावप्राप्त श्री जयरामशेष की सिफारिश पर श्रीगोविंददेवाचार्यजी ने घन आनंद को निंबार्क संप्रदाय में दीक्षा दे दी होय।

६०. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : घनआनंद, पृ० ७५।
६१. डा० मनोहरलाल गौड़ : घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा, पृ० ४४७।
६२. जो यह भोजनादि धुनि गावै। श्री गोविंददेव पद पावै॥

रही वृंदावनदेवाचार्य जी के प्रति श्रद्धातिरेक व्यक्त करनेवाली बात। कवि वस्तुतः उनके व्यक्तित्व से विशेष प्रभावित हुआ होगा और शेषजी के गुरु की प्रशंसा से उन्हें (शेष जी को) प्रसन्न करना भी ध्येय रहा होगा। आश्चर्य नहीं घन आनंद 'परमहंसावली' की रचना के माध्यम से श्रीवृंदावनदेवाचार्यजी को निजी काव्यप्रतिभा दर्शाने के लिये कृतसंकल्प हुआ हो। तदनंतर 'भोजनादिधुन' के प्रणयन के समय श्री जयराम शेष के जीवित होने के कारण अपने पूर्व व्यक्त भावों का पोषण करने के लिये विवश हुआ हो।

यदि कवि ने श्रीगोविंददेवाचार्य से दीक्षा न ली होती तो 'परमहंसावली' की निंबार्कीय गुरुपरंपरा की पुनरावृत्ति 'भोजनादिधुन' में करने की आवश्यकता नहीं थी। 'भोजनादिधुन' के निर्माण द्वारा कवि श्रीगोविंददेवाचार्य को 'परमहंसावली' में बैठाने के लिये ही आग्रह करता दिखाई पड़ता है।

अब रही घन आनंद की दीक्षा के समय अवस्था की बात। कवि (जो कि राय सूरतसिंह मुलतानी का पुत्र लाला आनंदसिंह है) १७२२ ई० के लगभग दिल्ली से बाहर गया और गुजरात से होकर सन् १७२७–२८ में व्रजभूमि में आया। उस समय उसके बाल पक चुके थे, जैसा कि 'सुजानहित' से ज्ञात होता है—

> लरिकाई प्रदोष मैं खेल खग्यौ हँसि रोय सु औसर खोय दयौ।
> बहुरौ करि पान बिषै मदिरा तरुनाई तमी मधि सोय गयौ ॥
> तजि कै रसमै घनआनँद कोँ जगधुंध सौं चातिक नेम लयौ।
> जड़ जीव न जागत रे अजहूँ किनि, केसनि ओर तें भोर भयौ ॥ ३६६॥

यदि कवि का जन्म संवत् १७३० (सन् १६७३) के लगभग माना जाय तो भी इस तथ्य की सार्थकता सिद्ध होती है कि कवि ५३-५४ वर्ष की अवस्था में व्रजलोक में आया था और वह तबतक सुजान को नहीं भूला था। किंतु अपनी बदनामी और प्रेमसंदेश के प्रति सुजान की कतिपय उपेक्षा के कारण वह उसकी ओर से बेमन होने लगा था। अतः यदि दीक्षा के समय वह ७० वर्ष का हो भी तो इसमें विस्मय की कोई बात नहीं है।

कवि घन आनंद अपनी काव्यरचना के चरमकाल में ही दीक्षित हुआ होगा, क्योंकि उसका सांप्रदायिक नाम 'बहुगुणी' केवल दो लघु कृतियों 'वृषभानुपुरसुषमावर्णन' एवं 'प्रियाप्रसाद' में ही उपलब्ध होता है। यदि घन आनंद ने यौवनावस्था में दीक्षा ली होती तो वह अन्य रचनाओं में भी 'बहुगुणी' छाप अवश्य रखता।

निष्कर्ष

समग्र विमर्श के उपरांत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं —

१. कवि का वास्तविक नाम लाला आनंदसिंह था।

२. 'घन आनंद' इनका लाड़ का नाम था।

३. इनके पिता राय सूरतसिंह मुलतानी मुगल सेना में (विशेषतः मुहम्मदशाह के समय में) अधिकारी थे।

४. इनका मुलतान से वंशगत संबंध था। घर में मुलतानी (लँहदी) का व्यवहार होता था। किंतु बाद में दिल्ली में बस गए थे।

५. ये जाति के कायस्थ थे।

६. सैयदों के पतन के उपरांत सन् १७२२–२३ में राय सूरतसिंह के साथ घन आनंद गुजरात की ओर चले गए। वहाँ उनके पिता मराठों के विश्वासपात्र बन गए थे। सन् १७२७–२८ में घन आनंद अपने पिता के निधनोपरांत गुजरात से चल दिए। निस्सहाय तो थे ही, गोसाईं जी के साथ वृंदावन की ओर चले आए।

७. गुजरात से वृंदावन की यात्रा में गोसाँई जी के चमत्कार से प्रभावित होकर अपने मन में 'आनंदघन' नाम धारण कर लिया। इसे ही वे अपने प्यार के नाम 'घन आनंद' के साथ ही काव्य में प्रयुक्त करते रहे।

८. गोसाँई जी ने इन्हें श्री गोवर्धननाथ जी की सेवा में छोड़ा था। किंतु सुजानप्रेम विषयक इनकी पद्य रचना के कारण बदनाम होने पर इन्हें नया आश्रय ढूँढ़ना पड़ा।

९. सैयद भ्राताओं के पुराने वकील सिरोमनिदास कायस्थ के कारण घन आनंद को अनायास ही वृंदावन के गोसाँई ब्रजनाथ—जो 'रागमाला' के रचयिता भी हैं—के यहाँ शरण मिली।

१०. गोसाँई ब्रजनाथ ने पहले तो घन आनंद के अनुचित प्रेम की भर्त्सना की। किंतु उनके प्रेम की अनन्यता पहचानकर कवि की अभिलाषा के अनुसार सुजान को प्रेमपत्र भिजवाया। किंतु उसकी ओर से कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला। कालांतर में कवि के हृदय में लौकिक प्रेम के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गई।

११. घन आनंद के मन में निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित होने का विचार उत्पन्न हुआ। उन्होंने निंबार्क संप्रदाय के तत्कालीन आचार्य श्री वृंदावनदेव जी के शिष्य श्री जयराम शेष की सहायता चाही। किंतु आचार्य वृंदावनदेवजी (सन् १७०२–४३) ने घन आनंद के एक वेश्या से अनुचित प्रेम तथा गोवर्धन-नाथजी की सेवा से मुक्त होने के कारण उन्हें संप्रदाय में लेने से आनाकानी की।

१२. श्री गोविंददेव जी के समय (सन् १७४३–१७५७) में श्री जयराम-शेष निंबार्कीय मठ मंदिरों के प्रबंधक बन गए। उन्होंने अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व से घन आनंद को श्री गोविंददेवजी से दीक्षा दिला दी।

१३. घन आनंद का निधन सन् १७६० में अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण के समय हुआ। संभवतः एत्माद-उल-दौला कमरुद्दीन के वकील आनंदराम 'मुखलिस' के नामसाम्य के भ्रमवश ही उनकी हत्या हुई।

१४. ला० भगवानदीनवाली जनश्रुति के अनुसार घन आनंद के दिल्ली निवास के समय रासप्रेमी होने की बात युक्तिसंगत है। ऐसा प्रतीत होता है कि घन आनंद मुहम्मदशाह के दरबार में कर्मचारी नहीं थे, प्रत्युत वे अपने पिता की संपत्ति की देखरेख करते थे। सुजान से उनका प्रेम अवश्य था, किंतु सुजान के कारण उन्हें निर्वासित नहीं किया गया। इतना अवश्य है कि वे दिल्ली छोड़ने के समय जल्दी में सुजान से मिल नहीं सके थे।

१५. वे राजनीतिक विस्थापक थे। शासनाधिकारियों की ढुलमुल नीति के कारण ही प्राणों के भय से वे अपना परिचय नहीं देते थे। वृंदावन आने पर 'मुड़ौआ' कांड के पश्चात् वे और अधिक सावधान हो गए। अपने हार्दिक उद्गारों को प्रकट किया, किंतु बड़े रहस्यमय ढंग से। अपने आपको गोपनीय रखने के लिये उन्होंने इन विधियों का उपयोग किया—

(क) अपने नाम के विभिन्न पर्याय प्रयुक्त किए। कहीं आनुपूर्वी बदली और कहीं नाम के अंश का ही प्रयोग किया।

(ख) अपने से संबद्ध व्यक्तियों—राय सूरतसिंह (पिता), सुजान (प्रेमिका), ब्रजनाथ (वृंदावन में आश्रयदाता) तथा सिरोमनिदास और चूड़ामनि (दिल्ली के साथी) के नामों के अनेक पर्याय प्रयुक्त किए। 'सुजान' शब्द का तो ११ अर्थों में प्रयोग किया है, जिनमें कृष्ण और राधा भी संयुक्त हैं। चूड़ामनि[६३], सिरोमनि[६४] का प्रयोग भी राधा अथवा कृष्ण के लिये किया है।

६३. (क) गोपी चूड़ामनि श्रीराधा। ……।—नाममाधुरी, २१॥
(ख) रसकदंब चूड़ामनि स्याम। राधारमन परम अभिराम॥
—प्रेमपद्धति, २०॥

६४. (क) श्रीकृस्न सिरोमनि श्री राधा।……।—नाम माधुरी १॥
(ख) सब तजि भजति एक नँदनंदन। रसिक सिरोमनि सब जगवंदन॥
—ब्रजब्यवहार, ११६॥

(ग) घन आनंद ने किसी भी बात का स्पष्ट और एक ही स्थान पर वर्णन नहीं किया। सुजान का रूपवर्णन ही उन्होंने 'सुजानहित' और 'प्रेमपत्रिका' में विभिन्न स्थलों पर किया है।

१६. वृंदावन में घन आनंद के शरणदाता श्री व्रजनाथ गोसाँई ने इनके कुछेक ग्रंथों का संग्रह किया है। किंतु प्रस्तुत कार्य में उन्हें कुछ कठिनाइयों का अनुभव हुआ है, उन्हें अपनी प्रतिष्ठा भी खोनी पड़ी है। संभवतः भड़ौआकारों के हाथ लगी 'सुजानहित' वाली प्रति को पुनः प्राप्त करने के उद्देश्य से ही उन्होंने सब प्रकार की कठिनाइयाँ सहन कीं।

•

कीर्त लच्मी रो संवाद

मोहनलाल पुरोहित

'संवाद', 'वाद', और 'झगड़ा' नामक रचनाएँ राजस्थानी और गुजराती साहित्य में बहुत बड़े परिमाण में मिलती हैं। ऐसी रचनाओं में कवि अथवा लेखक प्रायः दो काल्पनिक पात्रों को प्रस्तुत करता है। किसी एक प्रसंगविशेष को लेकर दोनों पात्र वादविवाद करते हैं, एक दूसरे के महत्व को दिखाते हैं और अंत में उन दोनों कल्पित पात्रों का परस्पर मेल करा दिया जाता है। इस प्रकार विज्ञ पाठक देखेंगे—ये संवादसंबंधी रचनाएँ रोचक तथा चमत्कारपूर्ण होती हुई अपने ढंग से शिक्षाप्रद भी रही हैं। इनमें[1] दातार और सूम का संवाद, मरवणी मालवणी संवाद, गुरुचेला संवाद, ऊँदर मिनकी संवाद, सोना गुंजा संवाद विशेष उल्लेखनीय हैं।

संवादसंबंधी रचनाओं पर अबतक जिन विद्वानों ने प्रकाश डाला है उनमें श्री अगरचंदजी नाहटा अग्रणी हैं। संबंधित निबंध इस प्रकार हैं—
१. नरहरि महापात्र का सोने लोहे का झगड़ा[2] तथा २. राजस्थानी साहित्य के संवाद ग्रंथ।[3]

यहाँ हमारा विषय 'कीर्त लक्ष्मी रो संवाद' है। हमें यह रचना जैसलमेर में, जब हमें वहाँ 'राजस्थानी लोक गीत' एवं लोक कथाओं के संग्रह के हेतु जाना पड़ा, एक दुकानदार के पास (संभवतः वह पंसारी था) मिली। रचना ऐसे सड़े गले पीले कागज पर लीथो प्रेस में छपी हुई है कि उसे हाथ से छूना भी कठिन है। अतः इस प्रकार की रचना की प्रतिलिपि करवाकर उसे

१. बीकानेर महाराजा रायसिंह के आश्रित शंकर कवि द्वारा १७ वीं शताब्दी में रचित जैनेतर कवियों की कुछ रचनाएँ।

२. नरहरि महापात्र का सोने लोहे का झगड़ा—अगरचंद नाहटा
(नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६, अंक १ सं० २०१५)

३ राजस्थानी साहित्य के संवाद ग्रंथ—श्री अगर चंद नाहटा
(वासंती—दिसंबर १९५५)।

ज्यों की त्यौं दे देना समीचीन समझा गया है। विद्वान् पाठक इसका रसास्वादन तो कर ही सकेंगे साथ ही विषय के मर्मज्ञ इसका मूल्यांकन भी कर सकेंगे।

कुछ विद्वानों का ऐसा मत रहा है कि संवाद संबंधी रचनाएँ आकार में छोटी होती हैं। लेकिन पाठक देखेंगे—यह रचना काफी बड़ी है। लक्ष्मी और कीर्ति दोनों परस्पर वादविवाद करती हैं, एक दूसरे को अपने से श्रेष्ठ बताती हुई अपना महत्त्व स्थापित करने का प्रयास करती हैं। कवि उन्हें जैसलमेर राजा के पास पहुँचाता है, आदि। इसमें दोहे और छप्पय सब मिलाकर ६६ पद हैं। पद संख्या १४ में कविनाम सगराम एवं रचनास्थान गढ़ जैसाण (जैसलमेर दुर्ग) का स्पष्ट उल्लेख है। अंत में 'सं० १६४२ के आश्विन सुदि १३. श्री जैसलमेर मध्ये' लिखा हुआ है। तात्पर्य, रचनाकाल को न लेकर लिपिकार के समय को ही लेना होगा। कारण, पद संख्या ४७ में हमें स्पष्ट संकेत मिलता है—

इंद्रपुरी सु' अति अधिक, तिण जैसांण तखत।
राजा वांरो रूप है, मूलराज महिपत ॥ ४७ ॥

जैसलमेर के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि महारावल श्री मूलराजजी का राज्यकाल संवत् १८१८ से १८७६ तक रहा। इस प्रकार उन्होंने ५८ वर्ष तक राज्य किया। जैसलमेर के इतिहास में महारावल श्री मूलराजजी का स्थान बड़ा विचित्र एवं अपने ढंग का ही रहा है। उस समय राज्य पर अड़ोसपड़ोस के राजाओं ने कई हमले किए और इस प्रकार हम देखते हैं—जैसलमेर राज्य का काफी हिस्सा पड़ोसी राज्यों के अधिकार में चला गया। पूगल का बीकानेर के अधिकार में हो जाना, पालीवालों का देश त्याग कर चले जाने की घटना इन्हीं के राज्यकाल की दुःखद घटनाओं में है।

फिर भी जहाँतक महारावल के व्यक्तित्व का प्रश्न है, वे बड़े ही संत पुरुष एवं वैष्णव मत के माननेवाले थे। उन्होंने अपने समय में कई वैष्णव मंदिर बनवाए, कई तालाब खुदवाए, जिनमें 'मूल तालाब' बड़ा प्रसिद्ध है और आज भी विद्यमान है। आपने जैसलमेर से ५।६ मील की दूरी पर एक बाग मूल सागर और इसी नाम का एक गाँव (मूल सागर) भी बनवाया। यह गाँव अपने कुलगुरु पुरोहितों को पुण्यार्थ दे दिया। ये बड़े ही विद्याप्रेमी थे। व्यास वंश के कई बालकों को इन्होंने काशी एवं गुजरात विद्याभ्यास के लिये भेजा।

आपके विषय में[४] पं० हरिदत्त व्यास (गोविंद) लिखते हैं—

'महारावल अपने पार्श्ववर्ती कवियों से अपने नाम से अनेक ग्रंथ निर्माण करवाते थे—मूल बिलास, कीर्ति लक्ष्मी संवाद आदि ग्रंथों के नाम एतद्देशीय जनता में परम प्रसिद्ध हैं।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस रचना का रचनाकाल सं० १८१८ से १८७६ के मध्य ही होना चाहिए। कारण, महारावल मूलराजजी का यही राज्यकाल इतिहास संमत है और यह रचना उन्हीं के आश्रित कवि की है।

कवि सगराम कौन थे ? वे जैसलमेर के थे या कहीं बाहर से आकर वहाँ रहने लगे थे ? उनकी और कौन कौन सी रचनाएँ हो सकती हैं ? इत्यादि सभी बातें शोध का विषय हैं। जैसलमेर एवं राजस्थान के विद्वानों का इस ओर ध्यान आकृष्ट करना उचित प्रतीत होता है। जैसलमेर राजस्थान का एक अति प्राचीन नगर है। यहाँ का जैनपुस्तक भंडार तो भारत विख्यात रहा ही है। जैसलमेर और वहाँके आसपास के गाँवों में आज भी अनेक ग्रंथ शोधकर्ताओं को प्राप्त हो सकते हैं।

श्री गणेशायनमः

अथ कीर्त्त लक्ष्मी रो संवाद लिख्यते

दूहा

श्री लंबोदर हुय सुप्रसन दीजे उक्त दयाल।
कीरत लिछमी रो कहां, वरण संवाद विसाल ॥ १ ॥

एक दिवस हुय एकठी, कीर्त्त लछ कुवार।
अंग बड़ाई आपरी, आयी आप उचार ॥ २ ॥

कीरतनां लिछमी कह्यो, जबर वचन कर जोर।
मुझ सरखी जगत मैं, आछी बसत न ओर ॥ ३ ॥

उचरी कीरत लछय सां, बधता बोल म बोल।
वडपण माहरो वेषतां, ताहरो कांसु तोल ॥ ४ ॥

४. जैसलमेर का इतिहास (१६२०)—पं० व्यास हरिदत्त गोविंद, पृ० १३२।

लछ कह्यो इण लोक मैं, हुंईज बडी हमार।
बडी न कीरत हुँ बडी, आद अनाद उचार ॥ ५ ॥
लछ कह्यो कीरत म लड़, जो तु न्याव मग जोय।
आछा म्हांरा अंग सुं, सखरा दीसें सोय॥ ६ ॥
माहरां अंगां सुं मुदे, सोभ रह्यो संसार।
जिके गणाउ जु जुवा, सुण कीर्त सुविचार ॥ ७ ॥

छप्प

सपत धात सोवर्ण, आद ईण लोक अपंपर।
चुंनी कणी चुंणीर, हीर मांणक जवाहर ॥
लाल रत्न लसणिया, म्हा मुगताहल माला।
पीरोजा परचंड पना पुखराज प्रवाला।
मरकत फटक वैद्रूयमिण सीमंतक कौसभ रहत ॥ ८ ॥

दूहा

उजल महल भड़हस्त अस, दल बल अमल दिसंत ।
जलहल नृप सोभें जिका, बयमो सकल बसंत ॥ ६ ॥
तै कहि लीधा ताहरा, अंग लिछमी ईतराय।
माहरां अंगां विण मुदे, थिर सोभा न्ह थाय ॥१०॥
ज्यों सुं सोभा जगतरी, जुग २ नाम न जाय।
वै माहरा अंग आपनें श्रोया कहुं समझाय ॥११॥

छप्प

अनवा उगत अनूप जुगत कविता रस जांणां।
अलमम्रं ऊजलां, पिंगल छदां प्रमांणां।
कायव गीत केवित दूहा गाहा निसांणी।
कहै बातां केईक, बडा कवि मुखां बखांणी।
लोकीक वाहध्र सबद लख, कहे एम कीरत कवर।
माहरा अंग मृत लोक मैं, श्रे मनपां राखे अमर ॥१२॥
वै कण विध रहै अमर, करण कारज समरथ किम।
माया हीण मनष, सकल जीवता मृत्क सम।
बसतै नगर विशेष, गृह सुनागण त्यांरा।
आवै कर २ आस, जाय निर आस जिकांरा।
सजन नहीं गिणे ज्यानें, सजन दुरजन नहीं माने दस्त।
संसार मांह जिणसुं सदा, माया हीज मोटी वस्त ॥१३॥

मोटा संत महंत महंत मोटी ज्यांन री है करणी।
कथावांन द्वज केईक, केईक पिंडत या करणी।
जंत्री, मंत्री, जती, कवि, गायबी केईका।
रक बंध रजपूत ओर हुं नरी अनेकां।
दोलत वंत रे द्वार गुमर जिन रखे गैला।
ईतरां री आय जुडै, प्रात दिन ऊगां पैला।
राव अरु रंक भेली करण, खलक रात दीहां खरत।
संसार मांय जिणसुं सदा माया हीज मोटी वस्त ॥१४॥

दूहा

माया तु मां बाहरी, निपट बुरी नव निध।
कोरत कहै सुण कांन दे वरणु जैरी विध ॥१५॥

छप्प

कीरत हीणां कनें, जिका माया युं जांणै।
साकर दूध सवाद, स्वान ठीकरी समांणै॥
ऊजल नर आचार, जन्म चंडाली कुल मैं।
स्वात बुंद अति सरस, पडो विषधर रा मुख मैं।
अनसदा भलो पण अस्वजमैं, आवे किण कारज अनें।
जोंण ले एम माया जिका, कोरत हीण पुरषां कनें ॥१६॥

मीठो हीज ईक मनष धरा चुगली व्रतधारी।
आछै कुल असतरी, विश्न क्युंहीक विभचारी।
गंगजल रो कलस मांय, मदरा रो टबको।
मुख फूठरा मंजार, एक कुष्ट रो छबको।
छबाक असुध भोजन मिलै दुचित हुवै मन देखनै।
अंग लोभ मिल लिछमी ईसी, कीरतहीण पुरषां कनै ॥१७॥

मो विण तासुं मिता नेह, राख कोईक नर।
तोटा कीरत तणा, कहीजै मोटा कंजर।
नह ले ज्यांरो नाम, प्रात दरसण नह पेखै।
सोक देह सहरया, लोक राकस सम लेखै।
जीवता कहै द्रग र जगत, मुवां मिलै पदवी मडा।
कालंदर सर्प हुय नर केईक, बागल हुय लटके बडा ॥१८॥

दूहा

लिछमी बडा कु लाभ होय, तोसुं हेत हुवांह।
अपजस भेला जीवतां, मेलै नरक मुवांह ॥१६॥
कीरत रा सुणीया कठण, धीठ वचन मझ द्वेष।
माया तो पिण गुंम रमै, बोली बोल विशेष ॥२०॥
माया हीणा मांनवी, देसी कासुं दत।
मागो धोय निचोवसी, कासु कहु कीरत ॥२१॥
माया सुं आया मिलै, आदर आध अपार।
माया हीणो मनष नै, करै नहीं किरतार ॥२२॥
ऊंचा कुल रो पुरष अरु, अलंगां पडीयो होय।
वप तूटै माया विना, कुसल न पूछै कोय ॥२३॥
छछ कुल मायावंत रै, कांटो चुभसी कोय।
नर सारा मिल नगर रा, सुख पूछसी सह कोय ॥२४॥
विध विध हुँ मोटी वले, मोटा आदर मंड।
मोटा कारण कायरा, पख मोटा परचंड ॥२५॥
पखा बडाई पामजें, पखां वधै छै पत।
माया कहै पख माहरा, कांनां सुण कीरत ॥२६॥

छप्पय

पीहर खीर समंद, जिको सारो जग जांणै।
जग त्रिलोक जीवन, पिता मो सकल पिछांणै॥
अमल क्रांत ऊजलो, भंणु चंद जिसडो भाई।
ईण पृथवी ऊपरा, श्रव अमृत सदाई।
सुपसात दैण हुँ आप सुज, सरब विध सारां सिरै
मुझ सुं ऐम माया कहै, कीरत तुं सम बड करै ॥२७॥

दूहा

कीरत कहै कहणो किसुं, पख मोटा सांप्रत।
लिछमी तै लीधी भली, पखां तणी परकत ॥२८॥
जल री बेटी जिकण सुं, अंग थारै गत एह।
ऊंच मना नर छोड अरु, नीच मनां सु नेह ॥२६॥
बंधव तो बहु रुपीयो, रुप न एक रहाय।
तुं पिण तण री बहन तम, जग मधि घट वध जाय ॥३०॥

उजल गुंण ज्यांरा अनंत, परगट कहै पुरांण।
माया सांभलें माहरा, पख गिरमर प्रमांण ॥३१॥

छप्प

तालो मोटो तात, मात सुं क्रत कमाई।
कीरत राज कुवार, जिकां हुत हूँ जाई।
साच सील तप सत, भ्रात मो पांच...... ।
दया बहन दूसरी सरब पुन्य री सिरोमण।
सुणभेद पख माहरां सदा, वेद बडाई विसतरै।
तुं लछ जिकण मो क्रत सुं, किसी रीत सम वड करै ॥३२॥

दूहा

माहरां भायां सुं कीयो, जादा हेत जणांह।
वे जग में रहीया अमर, सुण लिछमी श्रवणांह ॥३३॥

छप्प

साच हुंत युधिष्टर नाम नव खंड रहायो।
गेह र सील गंगेव कथन धिन २ कहायो॥
भागीरथ तप करै ईला मम्ह गंगा आंणी।
राखें सत हरचंद धरा मुंको रजधांणी॥
बल त्रिलोक दीय दांन, द्रगे तिण तल हथ मंडे।
दीयो नृपत मोर धज खाग आधो भखंडे॥
पचास कोस जोजन प्रथी धरै उदक फरसी धरण।
अमांम दांन दीय करण, अतिक्रत अमर नाम करण ॥३४॥

दूहा

कीरत तो दीनां करै, दे को मो बिण दांन।
बिण लिछमी कीरत बधै, जांणै सकल जिहॉन ॥३५॥
दया बहन दुनीयाँ नमैं, रखो चिरंजी रांम।
मनें वधावै बा मुदै का सुंण थारो कांम ॥ ३६ ॥
जिकण दयो रो जोय तुं, अबै कहुं ईतहास।
सो पाली राजा सबर, जग वधीयो जस वास ॥३७॥
राजश्रीया सब त्याग कर, राज डिगंबर रीत।
तप कज वन बैठो हुतो, पूर्ण ब्रह्म प्रतीत ॥३८॥

छप्प

सींचांण उणरयें दोढ कपोत दबायो।
सरणें नृप सबर रै, डडे तन कंपत आयो।

उण मुख सुं आंखीयो म्हा जोबन मैमंती ॥
अप्र सुत असतरी, बार छाडी बिलपंती ।
निरदोष चुंण कज नीकल्यो उण की झपट उंतावलो ॥
राखीयां मनैं रहसी अमर, राजा खत्रवट रावलो ॥३६॥
जद नृप रो भय जांण, कह्यो सींचांण जोड़ कर ।
श्रीया मुझ प्रसवती धांम सूती द्वे अंड धर ।
त्रय दिन हुवा वितीत, भष लाधो नह भांम थां ।
उण रा पथ वासतें, आज मो चढीयो हथां ।
पल वार अभां कीधा प्रभु, मुख सख अवर न मंडहां ।
एक जीव आय उबारहे, तो च्यार जीव तन छुडहां ॥४०॥

दूहा

सरणागति सुध्यारथो, उभै दया उर आंण ।
निज तन काटे सवर नृप, संतोषें सीचांण ॥४१॥
कीधो विदा कपोतनां, जीव दांन दे जास ।
ईण विध कीरत ऊजली, प्रथमी करी प्रकास ॥४२॥
सवर तणें उण दिन श्रीया, सी कोडी नह संग ।
करणी सो कोरत करै, उणहीं तरै अभंग ॥४३॥
कोरत पुराणां कथ कहीं, श्रीया नहीं विसवास ।
वडपण पूछण नां विहु, पहोती ब्रह्मा पास ॥४४॥
कीरत लछ दोनुं कह्यो, अग जग करता आप ।
महां मैं घट बध कुंण मुदै, निश्चै करो निसाप ॥४५॥
बात सुणे ब्रह्मा कह्यो, झगड़ा हुवा जाझाह ।
न्याव करण नर लोक मध, रचेया मैं राजाह ॥४६॥
इंदपुरी सुं अति अधिक, तिण जेसांण तखत ।
राजा वांरो रूप है, मूलराज महिपत ॥४७॥
माया कीरत मो हुकम, जेसांणे सत जोय ।
न्याव करेसी नरंद रे, रहजो राजी होय ॥४८॥
कीरत हुंदो साथ कर, माया जैसलमेर ।
ब्रह्मा जी रै वचन सुं, हित कर आई हेर ॥४९॥
कोरत लछ दोनुं कह्यो, रावल जादम राव ।
सगलो जग रीझै ईसो, नरयंद कीजै न्याव ॥५०॥
जदुपत कहेयो जदी, श्रीया कीरत सदाई ।
बे हुवें जगत पणाव विहु वां वड़ी बडाई ॥

चि हु वै भारी वस्त अषृ सारी सिध सोहै।
नाग असुर सुर नरौं, मागते हु वै मन मोहै॥
कीरत दुती भगत नवधा कही व्यासादिक संता वचन।
संप्रदा उचारी च्यार सत कीरत प्यारी श्रीकृष्ण॥५१॥

कह्यो नृपत लछ कीत, प्रगट मत वेद पुरांणा।
वल्लभ हरि नें वस्त, जिको सगलां सिर जाणां॥
भगत वल्लभ भगवंत, सत भाखंत सदाई।
भाखें जण भगत मैं, नाम लिछमी रो नाई॥
कीर्त दूती भगत नवधा कही, खासी जग संतां वचन।
संप्रदाय च्यार उचारी सु सत, कीरत च्यारी श्रीकृष्ण॥५२॥

मोसु प्यारी महिपती कीरत कही कण साख।
कीरत पतन कहै किसन, लिछमी पत कहै···ख॥५३॥

साखां श्रीमद्भागवत, श्री हरिवचन सुजांण।
उण······ला जग ऊपरा, वेदव्यास र···वांण॥५४॥
किसन पोढोया थ-कनै ग्राह गृह्यो गजराज।
लिछमी सूती मेल गया कीरत हूंदे काज॥५५॥
राज हुवा थे रुकमणी सो क्यां बीसरीयाह।
कीरत रे कहियां किसन वाल्हाहुय वरीयाह॥५६॥
ईण कीरत······सिर, ओ मोटा आसांण।
करो बीनती······सु मन मत धरो सु मांन।५७॥
श्रीया भागवत साख सुण, मन री छाड़ मिजाज।
कीरत रै पग लग कह्यो तो मोसुं सिरताज॥५८॥
कीरत हुंता हेत कर, ऊधरीया ईण पार।
एह लोक परलोक वा, सूधरीया संसार॥५९॥
दोनुं लोक डुबोय दे, लिछमी हेत हुवांह।
अपजस भेलें जीवनां, मेलै नरक मुवांह॥६०॥
ब्रह्मा कह्यो श्रीहरि वचन, वेद पुराण बिचार।
साचा मांनव सो करै, कीरत रो ईधकार॥६१॥
वे कूड़ा ज्यारें हीये, लिछमी एक लखाय।
तनक न सोभा तिकण री, मनख न मनखां माय॥६२॥

तीन लोक रा न···थरें, वल्लभ धणी विशेष।
सो कीरत सारां सिरै, सदा कहत ···सेस ॥६३॥
रीझावण छत्रपतीयां, तरक सासत्र विच तांम।
कीरत लछ संवाद कह, सादु कवि सगरांम ॥६४॥
रावल रा ··········ज, जादव गढ़ जेसांण।
ओवांरा उपदेश सुं मैं गुण कीयो प्रमांण ॥६५॥
कीरत नैं साची करी सा राजी सुविसेष।
राजी हुय लिछमीं रही, साचो न्याव संपेख ॥६६॥

इति श्री लिछमी कीरत रो संवाद संपूर्णम्
संवत् १६४२ रे आश्विन सुदी १३ रविवासरे श्रीजेसलमेर मध्ये

*

पौराणिकी

[इस स्तंभ के अंतर्गत ऐतिहासिक महत्व की अप्रकाशित मूल सामग्री का प्रकाशन किया जाएगा। इस अंक में आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सभासंग्रह से कुछ पत्र प्रस्तुत किए जा रहे हैं। ऐसी सामग्री इस स्तंभ के लिये आमंत्रित है।]

२४६६

[१]

श्रीहरिः बाजितपुर

२७-१०-०६

प्रिय पण्डित जी महोदय ?

प्रणति पूर्वक निवेदन है कि आप का कृपा कार्ड पाकर अत्यन्त हर्ष हुआ। मैं आपकी कृपा से कुशली हूँ। कार्तिक कृष्ण एकादशी को द्वितीय कन्या का जन्म हुआ। मैं गृहकृत्य में बझ जाने के कारण आपको अपना समाचार यथा समय नहीं लिख सका सो क्षमा कीजियेगा।

श्रीमान इन दिनों मुङ्गेर में विराजमान हैं, नवंबर के अखीर तक मैं भी उनकी सेवा में पहुँच जाऊँगा। हर्ष का विषय है कि भारतधर्ममहामंडल की ओर से श्रीमान् को 'कविकुलचंद्र' की उपाधि मिली है। आप कलकत्ते से लौटती बार अवश्य श्रीमान् को अपना दर्शन दे कृतार्थ करेंगे। मैं तो आपके दर्शनार्थ चिरकाल से आशा लगाये बैठा हूँ। आपका संकल्प ईश्वर पूरा करे। श्रीमान् का विचार दिसंबर में कदाचित् सफर करने का होगा तो उनके नियत स्थान की सूचना पहिले ही आपको दे दूँगा जिसमें आप को उनके पास पहुँचने में किसी प्रकार का असुविधा न होगा।

ब० भा

पत्र पोस्टकार्ड पर है। द्विवेदी जी ने अँगरेजी में रिप्लाइड ४।११।०६ लिखा है।

२४६३

[२]

श्रीहरिः मुंगेर

प्रिय पंडितजी ! प्रणाम १०-१२-०६

मैंने आपको एक पत्र घर से लिखा था जिसकी पहुँच अबतक मेरे पास नहीं आयी। यदि वह पत्र आपको न मिला हो तो उसकी बातें फिर आपको लिख भेजूँ।

मैं कल यहाँ आया। श्रीमान् कुशलपूर्वक हैं। २१ ता० दिसंबर को श्रीमान् कलकत्ते जाने का विचार कर रहे हैं। आपकी माता की बीमारी का हाल श्रीमान् के मुख से सुन मेरी तबियत बेचयन हो रही है। आपभी अपने आरोग्य होने की खबर भेजने का शायद समय नहीं पाते ?

कृपा कर कुशल शीघ्र लिख भेजिये। अभी कलकत्ते में रहने के लिये मकान ठीक नहीं हुआ है होने से शीघ्र आपको श्रीमान् का पता सूचित करूँगा। आप कैसे हैं कहाँ है सो लिखिये और कलकत्ते जाने का कब विचार है मेरे घर पर सब लोग अच्छे है।

कृ० का०

जनार्दन झा

पत्र पौराणिकी । ....

२४८६

[३]

श्रीहरिः SRINAGAR RAJ

GOLKOTHI.

Monghyr dated 14-4-1907

प्रिय पंडितजी महोदय ! प्रणाम

आप कृपाकार्ड पाया। आज्ञानुसार श्रीमान् का चित्र रजिस्टर्ड बुकपोष्ट के द्वारा कल की डाक से मैनेजर देशसेवक प्रेस के पास भेज दिया है। श्रीमान् के चित्र का ब्लाक

श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस के मालिक ने मँगवा भेजा था जो उन्हीं के यहाँ अबतक है। मैंने ब्लाक भेज देने के लिये उनको लिखा है। शायद उसके आने में विलंब हो अतः श्रीमान् की आज्ञा से चित्र भेजा है। और वे० से० प्रे० के मैनेजर को लिख दिया है वे इस चित्र से ब्लाक तैयार करालें, उसमें जो खर्च पड़ेगा सो श्रीमान् से दिया जायगा।

श्रीमान् १६-४-०७ को यहाँ से रुखसत हो गोगरी जायँगे और वहाँ से दो एक जगह दिहात में भी खीमा डालेंगे। संभव है कि इस सफर में एक महीना लगे। तदुत्तर लौटकर फिर मुङ्गेर आने की ही राय है।

गोगरी जाकर कुछ दिन के लिये छुट्टी लेकर मैं घर जाने की इच्छा रखता हूँ।

कार्ड पाने के पूर्व एक पत्र आपका और भी मैंने पाया था जिसमें आपने स्वार्थ परार्थ की कुछ बातें लिखी थीं। मैं तो हृदय से यही चाहता हूँ कि आपके सदृश हिंदी सुलेखकों को ईश्वर अनामय रख ग्रंथ लिखने का समय दे और जीवनोपाय की कोई चिंता चित्त में न रहने दे। मुझसे अकिञ्चन अकर्म्मण्य को आप अपना प्रिय समझते हैं अपनी उदार कृपा से अनुगृहीत करते हैं, इसी को मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ। इति

भवदीय कृपाकांक्षी
जनार्दन झा

२४८५

श्रीहरिः CAMP GOGRI
[४] 26-4-07

प्रिय पंडित जी महोदय!

प्रणाम

आपका कार्ड पाया। कुशल समाचार पा चित्त प्रसन्न हुआ। हमें शायद घर जाने की छुट्टी अभी न मिलेगी कारण इसका यह कि यहाँ आने पर श्रीमान बड़ा सरकार ने श्री छोटा सरकार को बुलाकर चि० श्रीमान कुमर जी के यज्ञोपवीत का निश्चय किया कि यदि श्री नगर में हैजा हो रहा है तो वहाँ यह

पत्र राज मुद्रांकित कागज पर है। अँगरेजी में द्विवेदीजी ने रिप्लाइड २६ ४।०७ लिखा है।

कार्य न होकर यहीं हो और यही विचार पक्का हुआ। डेवढ़ी के सब लोग जो पुनिया में समय बिता रहे हैं, वे यहाँ बुलाये जायँगे और अंतर्गृहवर्तिनी श्रीमती राजमाता प्रभृति सभी यहाँ आवेंगी। मुंडन के अवसर में जो मकान तैयार हुआ था उसी में उन लोगों के रहने का ठीक हो रहा है। और मंडप भांडागार जननिवासार्थ कितने ही नूतन गृह निर्माण का प्रबंध हो रहा है। वैशाख शुक्ल एकादशी गुरुवार व्रतबन्धन के लिये स्थिर किया गया है। अब समय कम है इसलिये तेजी के साथ सब काम शुरू कर दिये गये हैं। इस अवसर में अब मुझे अवकाश मिलना संभव नहीं अतएव मैंने उपनयन के अनंतर घर जाना उचित समझ छुट्टी के लिये यत्न करना छोड़ दिया। छुट्टी मिलती भी तो पाँच सात दिन के लिये फिर आना शीघ्र ही पड़ता। ब्लाक के लिये श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस के मैनेजर को लिखा था उत्तर जो उनने भेजा है सो इस पत्र के साथ भेजता हूँ। उसे पढ़कर लौटा दीजियेगा। वे जब आनंदमठ के लिये चित्र छाप लेंगे तब भेजेंगे। कौन जाने कितने दिनों में वे चित्र छापकर ब्लाक भेजेंगे। ब्लाक भेजे छः महीने हुए होंगे। आप श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस के प्रोपराइटर से पूछ सकते है कि वे कब तक ब्लाक भेजेंगे। यदि वे विलंब की अधिकता प्रकट करें तो श्रीमान का चित्र जो देश सेवक प्रेस के मैनेजर के पास भेज दिया है उससे ब्लाक तैयार करके चित्र छपवा लेने का ही विचार ठीक कीजिये। इति

भवदीय कृपाकांक्षी
जनार्दन झा

श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस के मैनेजर को फिर भी मैंने लिखा है कि शीघ्रातिशीघ्र चित्र छापकर ब्लाक नागपुर भेज दे। आप भी उसे लिख भेजिये।—

२४८१
श्रीहरिः
[५]

गोलकोठी मुङ्गेर
१८-६-०७

प्रियवर महोदय !

आपका कृपा पत्र पाया। स्वाधीनता की एक कापी भी पहुँची। मैंने उसे सादर स्वीकार किया। मेरे चित्र के नीचे

पत्र बादामी कागज पर है। द्विवेदी जी ने अँगरेजी में रिसीव्ड ३०।४।०७ लिखा है।

मेरे नाम में आपने जो परिवर्तन किया है वह मुझे मंजूर है।

मेरा चित्त अभी बड़ी घबड़ाहटमें है। मेरे छोटे भाई की हवेली में हिस्टीरिया रोग से बहुत बीमार है। और मेरे छोटे भाई अभी आठ दिन से गुरदे के दर्द से सख्त बेचैन हैं। चरमदर्दों का तकलीफ है। हम लोग को चार रोज से सोना हराम हो गया है। मैं दो रोज के लिये श्री नगर गया था घर से आया हूँ। दोनों बीमारों के यहाँ दवा के लिये लाया हूँ। दवा होती है पर दर्द कम नहीं होता है। नेहायत मुश्किल में फसा हूँ। ईश्वर मालिक है। और हाल दूसरे खत में लिखूँगा। यह खत अपने भाई के Sick Bed के पास नुसखे के कागज पर लिखता हूँ।

आपने जो स्वाधीनता समर्पण किया है उसके लिये मैं आपका परमकृतज्ञ हूँ।   इति

भवदीय

श्रीकमलानंदसिंह

पत्र सादे फुलस्केप कागज पर है।

२४८०

[६]

SRINAGAR RAJ

GOLKOTHI

Monghyr dated 19-9-1907

प्रिय पंडित जी महोदय !

प्रणाम

मैं आपके प्रथम पत्र का उत्तर जो मुझे शीघ्र लिख भेजना चाहिये था न भेज सका। कार्ड के उत्तर देने में भी अधिक विलंब हुआ। प्रथम तो इन अपराधों की क्षमा चाहता हूँ। ततः पर विलंब का कारण निवेदन करता हूँ।

१५ दिन से मैं बीमार हूँ। भाद्रकृष्ण द्वादशी बुधवार को मुझे सख्त बुखार हुआ। शिरः पीड़ा और हड़फूटन से चार दिन तक अत्यंत व्याकुल था। ग्यारह संध्या पर पथ्य लिया। कमजोरी यहाँ तक हो गई थी कि पथ्य लेने के बाद दो दिन तक दस पाँच कदम के सिवाय अधिक दूर टहल फिर नहीं

सकता था। अब आपकी कृपा से अच्छा हूँ पर किसी किसी दिन शिरः पीड़ा से व्यथित हो जाता हूँ। आवल्य भी अभी बना है। ज्वर सर्वथा निवृत्त है।

जिस दिन मैंने पथ्य लिया उस दिन श्रीमान को डेवढ़ी से खबर आई की उनके यहाँ कोई सख्त बीमार है वे तुरत डेवढ़ी रवाना हुए।

पत्र राजमुद्रांकित कागज पर है।

उनकी अनुजवधू हिस्टीरिया से कभी कभी अत्यंत कष्ट में पड़ जाती है। वही बीमारी उन्हें हो गयी थी। डेवढ़ी जाने पर उनकी हालत तो श्रीमान् ने अच्छी पायी पर उनके भाई पेट के दर्द से जिस दिन श्रीमान् वहाँ से लौटकर मुंगेर आने चाहते थे अत्यंत व्याकुल हो गये। अतएव श्रीमान् को दो दिन वहाँ और ठहरना पड़ा और अपने भाई को चिकित्सार्थ अपने साथ १६-६ को यहाँ ले आये हैं। यहाँ आने पर उन्हें (छोटा सरकार) फिर पेट का दर्द शुरू हो गया। तीन दिन से बराबर दर्द होता है। कभी दर्द का वेग अधिक बढ़ जाता कभी कम हो जाता है पर निर्मूलतया छुटता नहीं है। कविराज, हकीम और डाकटरों के द्वारा इलाज हो रही है। सैकड़ों रुपये रोज इन लोगों के फीस देने पड़ते हैं। श्रीमान् भी अपना सब काम छोड़ उन्हीं के समीप दिन भर बैठे रहते हैं।

श्रीमान् के नाम से जो आपकी चिट्ठी आयी है उसे मैंने पढ़ा। उसमें आपने मुझसे उत्तर लिखवाकर भेजने का अनुरोध किया था अतएव श्रीमान् ने अबकी बार स्वयम् अपने हाथ से आपको पत्र लिखना उचित समझ उदारता प्रकाश की है।

मैं आशा करता हूँ उस पत्र से आपको सब समाचार ज्ञात होंगे।

आपके पत्र का उत्तर यथा समय न भेजने के कारण मेरा मन खिन्न रहता है आप इसको अवश्य मानेंगे और अन्यथा कुछ अनुभव न करेंगे। मेरे घर पर सब लोग कुशली हैं।

भवदीय कृपाकांक्षी

जनार्दन झा

२५६६

[७]

धर्मो मित्रं मृतस्य च

'श्री राघवेंद्र' कार्य्यालय प्रयाग,

Dated 10-2-1909

प्रियवर प्रणाम

आपका कृपा पत्र मिला। आपकी आज्ञानुसार प्र० स० और अभ्युदय की २री संख्या भेजता हूँ। अभ्युदय से विशेष आशा नहीं है। आपने संपादक समिति के बारे में अपनी संमति क्यों नहीं लिखी ? आगे यदि अवकाश हो तो कोई हसी मजाक की कविता अथवा पत्र लिखकर भेजिये जिससे प्रतिपक्षी की नाक जले। सुना है विहारबंधु में गोपालराम गहमरी पहुँचा है।

पत्र छपे कार्ड पर है।

भवदीय

च० श० प्र० शर्मा

क्या आप सरस्वती में पं० माधवप्रसाद की कविता छापना स्वीकार करेंगे ?

२५६७

[८]

धर्मो मित्रं मृतस्य च

'श्री राघवेंद्र' कार्यालय प्रयाग,

Dated 27-2-1909

प्रियवर द्विवेदी जी,

प्रणाम

आपका पत्र पढ़कर चिंता हुई। आप अपना इलाज किसी चतुर डाक्टर से करावें। यदि वहाँ सुभीता न हो तो

यहाँ चल आवें मैं यहाँ Assist surgn और Civ. Surg. दोनों के परामर्श से आपका अच्छा इलाज करवा सकूँगा। बीमारी का मूल क्या है? डायरी का नं० २ मिला १ नहीं मिला सो ढूँढ़कर भेजूँगा। होली की संख्या में उस नीच वणिक पुत्र ने ब्राह्मणों को जो बात कही है क्या आपने उस पर ध्यान न दिया? मेरी राय में सं० समाज में आपको अवश्य संमिलित होना चाहिये। और संपादक समाज दृढ़ हो ऐसा प्रयत्न भी करना चाहिये। सरस्वती में 'पर्य्यालोचक' कौन है?

पत्र छपे कार्ड पर है।

भवदीय—

च० शं० प्र० शर्मा

धंबई से शुक्लजी आये हैं अगले रविवार को लौट जायँगे।

[६]

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

ता० १२-३-१९१२,

महाशय,

१० ता० का कृपाकार्ड मिला। पं० जनार्दन भट्ट को आज ३) का मनीआर्डर भेज दिया।

आशा है, स्वास्थ्य अनुकूल होने पर आप कुछ न कुछ अवश्य लिखने की कृपा करेंगे और उसे इसी प्रेस में छपने के लिये भेजने की भी उदारता दिखायेंगे।

काम की अधिकता से ही पुस्तकों के छपने में देरी हो जाया करती है—आज कल भी इस समय २०-२५ किताबें हमारे पास नई छपने के लिये मौजूद हैं।

क्या लिखिएगा? 'समालोचना शास्त्र' क्यों न लिखिए? खूब बिकेगी।

भवदीय—

रा० ला० शर्मा

पत्र छपे कार्ड पर है। द्विवेदीजी ने अँगरेजी में रिव्याइज्ड १४।३।१२ लिखा है।

२६४७

[१०]

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

ता० १८-३-१९१२

महाशय,

१४ ता० के कृपापत्र के उत्तर में निवेदन है कि रघुवंश को हिंदी में कथारूप से आप लिखेंगे तो पुस्तक बड़ी ही उत्तम होगी। बड़ी आवश्यकता है। लिखिए। जरूर लिखिए।

क्या आप कृपा करके मुझको कुछ लिखने का परामर्श देंगे? मेरे लिखने योग्य कोई छोटी सी पोथी आप अपने विचार से तजवीज करें तो बहुत अच्छा हो।

विनीत—

रा० ला० शर्मा

पत्र छपे कार्ड पर है। द्विवेदी जी ने अँगरेजी में रिप्लाइड १४।३।१२ लिखा है।

विमर्श

सेवाहितदास की रचनाएँ

कैलाशचंद्र शर्मा

लेखक को शोध में श्री सेवाहितदास की दो रचनाएँ —'श्रीगुरुशतक-अष्टयाम' और 'भक्तमाल की वचनका टीका'—प्राप्त हुई हैं। ये दोनों ग्रंथ श्री राधावल्लभ का मंदिर, पैलेसरोड, बांसवाड़ा (राजस्थान) के वर्तमान पुजारी श्री दुर्लभरामजी भट्ट के सौजन्य से प्राप्त हुए। शोध की दृष्टि से ये ग्रंथ नवोपलब्ध हैं।

श्री गुरुशतक अष्टयाम

अतःसाक्ष्य की दृष्टि से सेवाहितदास जी राधावल्लभ संप्रदाय के अनुयायी, बाँसवाडा के निवासी गोस्वामी दयानिधि जी के शिष्य और नागरजाति के दवे ब्राह्मण थे। बाद में राजा अभयसिंह ने इन्हें गिरिपुर (डूँगरपुर) बुला लिया था। 'श्री गुरुशतक अष्टयाम' के २५ पत्रों में ११३ छंद हैं। यह प्रति खंडित है। इसमें आदि के आठ पत्र न होने से आरंभिक ३८ छंद नहीं हैं। यह आकार में ५॥ इंच लंबी और ४ इंच चौड़ी है जिसके प्रत्येक पृष्ठ पर सात सात पंक्तियाँ हैं। इसमें काली स्याही से लिखा होने के साथ साथ लाल स्याही से हासिया और विरामचिह्नों का बाहुल्य है। छंद की मात्राओं के गिनने से यह निष्कर्ष निकलता है कि ग्रंथ दोहा शैली में लिखा गया है। इसके लिपिकार श्री दुर्लभरामजी भट्ट के पितामह श्री वल्लभरामजी भट्ट हैं। इसका रचनाकाल सं० १६०६ वि० में आश्विन की अष्टमी दिन सोमवार है—

समत ओगणि सतक पर ॥ नव आश्वन नवरात।
चंदवार तिथि अष्टमी ॥ गुरु गाये अधरात ॥११३॥
इति श्री गुरुशतक अष्टजाम श्रीदयानिधि के दास सेवाहित कत समाप्तम् ॥

ग्रंथ के अंतिम पत्र पर इसका लिपिकाल सं० १६३६ वि० माघ सुदी १ बुधवार दिया गया है। लिपिकार सेवाहितदास का शिष्य है। कवि ने इसमें गुरु को सर्वस्व माना है क्योंकि गुरु के बिना मोक्ष नहीं मिलता, ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, गुरु के बिना भ्रम का निवारण नहीं होता और संमान भी नहीं मिलता।

इस ग्रंथ में राधावल्लभ संप्रदाय के आचार्यों का नामोल्लेख भी किया गया है जो इस प्रकार है।—

'संज्या आरति के समे॥ जै जै धुनि रहि छाय॥ हित गुरु के गावत गुननि॥ सेवक सुजस बढाय॥ ८८॥ हरी गुरु बंसी गुरु॥ वृंदावन गुरु धांम॥ श्री बनचंद गुरु सदा। चहुग्रह गुरु नाम॥ ८९॥ गुरु हरिवंश विहार को॥ पार नां पावत कोई॥ सेवक नागरिदास से॥ जादा जांनत होइ॥ ९०॥

सर्वांशतः इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य गुरु की अष्टयाम पूजा है। हिंदी साहित्य में अष्टयाम की एक पुष्ट परंपरा मिलती है। राधावल्लभ संप्रदायानुयायी श्रीसेवाहित दास लिखित 'श्री गुरुशतक अष्टयाम' भी इस परंपरा का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है।

भक्तमाल की वचनका टीका

इसके रचयिता भी सेवाहितदास हैं। यह टीका 'भक्तमाल' और 'भक्तिरस-बोधिनी टीका' की गद्य टीका है जो अप्रकाशित है। लेखक को प्रस्तुत ग्रंथ की हस्तलिखित प्रतिलिपि उक्त श्री राधावल्लभ मंदिर, पैलेसरोड, बाँसवाड़ा (राजस्थान) के पुजारी श्री दुर्लभराम भट्ट के सौजन्य से उपलब्ध हुई। शोध की दृष्टि से हिंदी साहित्य जगत् में यह टीका एक नवोपलब्ध ग्रंथ है। इस टीका के पत्रों पर ४४२ तक संख्या दी गई है, परंतु प्रारंभिक पाँच पत्रों और अंतिम एक पत्र पर कोई अंकविधान नहीं है। टीका में पत्रसंख्या २४७ नहीं है। यह लिपिकार की भूल है क्योंकि पाठानुसंधान से पाठ में कोई क्रम नहीं टूटता। इस प्रकार इस टीका के पत्रों की कुल संख्या ४४७ होती है। पत्रों पर पंक्तियों की संख्या का सम्यक् विधान नहीं है, किसी पत्र में अधिक पंक्तियाँ हैं तो किसी में कम। यह काली स्याही में लिखित है किंतु लाल स्याही के विरामचिह्नों का बाहुल्य है। यह आकार में ८ इंच लंबी और ५॥ इंच चौड़ी है।

अंतःसाक्ष्य के आधार पर इसका रचनाकाल सं० १९१२ वि० में कार्तिक की पूर्णिमा है। यह शहर गिरिपुर (डूँगरपुर) में राजा अभयसिंह जी के बंशीधर मंदिर में लिखी गई।[1] टीका में प्रतिलिपिकार का कहीं भी उल्लेख नहीं है। किंतु राधावल्लभ मंदिर के वर्तमान पुजारी श्री दुर्लभराम भट्ट से ज्ञात हुआ कि इस टीका की प्रतिलिपि भी उनके पितामह श्री वल्लभराम भट्ट द्वारा तैयार की

१. सेवाहितदास—भक्तमाल की वचनका टीका—(अप्रकाशित)—पत्रसं० ४४०, कवित्त सं० १, द्र० 'शहर गिरिपुर में राजे अभेसेंघ जू के बंशीधर मंदिर में वचनका बनी है। गुंनी सत द्वादस वरस मास कार्तिक में पुन्यो पूरी भई मनो मुक्त मन मनी है।'

गई थी। यदि यह सत्य है तो इसका लिपिकाल सं० १६३६ वि० के लगभग माना जा सकता है क्योंकि 'अष्टयाम' का लिपिकाल सं० १६३६ वि० है।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से ग्रंथ के आरंभ में ६ कवित्तों में टीका करने का उल्लेख है, इसके बाद ११ कवित्तों में वृंदावन ब्रज परिक्रमा अष्टक का वर्णन, ११ दोहों में भक्तमाल की वचनका टीका करने के कारणों का उल्लेख (ये दोहे आरंभिक नौ कवित्तों से पहले होने चाहिए, इस भूल को ग्रंथ में स्वीकार किया गया है) और ६ कवित्त हैं जिनमें से पाँच कवित्त ग्रंथ के पत्र सं० ४४०-४४१ पर भी हैं। लिपिकार ने यहाँ इन्हें भूल से लिख दिया है लेकिन इनमें से एक कवित्त परवर्ती पत्रों में नहीं है।[२] यहाँतक टीका के पत्रों पर कोई अंकविधान नहीं है। आगामी ४३६ पत्रों में भक्तमाल और भक्तिरसबोधिनी टीका की गद्य टीका दी गई है। इसमें भक्तिरसबोधिनी टीका के कवित्तों की संख्या ६३८ है जो गलत है। इसे लिपिकार ने पहले की भूल मानते हुए लिखा है कि 'अथ मूला ॥ २१४ ॥ अरु टीका के ॥ ६३६ ॥ या प्रकार आगु से लिखते आवे हे। जासों मेनेहु आंक धरयो हे। परंत टीका के कवित्त तो छ से अठाइस भए हे। यामे इग्यारे आंक बढती हे। सो आगो से ओछेइ लीये हे।' तथ्य तो यह है कि भक्तिरसबोधिनी टीका के कवित्त १४ की टीका के बाद टीकाकार ने इस गद्य टीका में कवित्त टीकाओं की संख्या गलत दे रखी है जिससे अंतिम संख्या अशुद्ध हो गई है। पत्र सं० ४३६ के बाद ५ दोहों में अभयसिंह का सुयशप्रताप, एक सवैया और तीन कवित्तों में भागवत के एकादश स्कंध में श्रीकृष्ण के मुख से कथित भक्तिमहिमा का वर्णन, १२ कवित्त और ७ दोहे में दशधाभक्ति का निरूपण, जिसमें भक्त के अनुसार एक एक भक्त की भक्ति का निरूपण किया गया है और, टीका के अंतिम पत्र पर (जिसपर कोई अंक नहीं है) टीकाकार ने 'वृंदावनवास वसवो तहाँ अरजी करनी' के लिये एक दोहा और ४ कवित्त का चयन किया है। लेकिन पत्र संख्या ४००-४४२ पर भक्तमाल की वचनका टीका के फलस्तुति सिद्धांत विषयक १२ कवित्त और २ दोहे हैं। यहाँ कवित्त सं० २ में टीका का रचनाकाल और टीकाकार के निवासस्थान का उल्लेख है। टीका व्रजभाषा गद्य में है। टीका के आरंभ और अंत में कवित्त, दोहा और सवैया का प्रयोग है

२. 'यह कवित्त पीछे हू लीये हे पुनि इहाँ भूलि के लिखे हे : अरु यामे कोउ कवित्त नयो हू होयगो याते लखायो हे इतीः'।

जिनकी संख्या क्रमशः ४१, ३१ और १ है। इस तरह छंदों की कुल संख्या ७३ है। भक्तमाल की परंपरा में इस टीका का महत्वपूर्ण स्थान है।

इस टीका की विशेषता यह है कि टीकाकार ने भक्तों के वर्णन में घटनाओं पर अपेक्षाकृत अधिक प्रकाश डाला है। इसमें नाभादासजी के जीवन पर भी महत्वपूर्ण सूचनाएँ दी गई हैं। सेवाहितदासजी साहित्य के क्षेत्र में नवोपलब्ध हैं।

*

मोहनसाँई कृत 'अरस बेगम सार' : एक परिचय[1]

देवकीनंदन श्रीवास्तव

उत्तर भारत की निर्गुण काव्यपरंपरा के विकास में अवध के संत मोहनसाँई और उनके पंथानुवर्तियों का जो महत्वपूर्ण योगदान रहा है उसकी ओर कदाचित् अभी तक संतकाव्य के किसी अनुसंधानकर्ता का ध्यान नहीं गया। 'उत्तरी भारत की संत परंपरा' जैसे विशद ग्रंथ में भी, जिसे निर्गुण संतकाव्य का विश्वकोश कहलाने का गौरव प्राप्त है, उसकी चर्चा नहीं आई।[2] प्रस्तुत निबंध के ही लेखक को अनायास संयोगवश इस पंथ के एक मर्मज्ञ संत के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनकी कथनी और रहनी के कतिपय मौलिक लक्षणों को देखकर कुतूहल बढ़ा और उसने बलवती जिज्ञासा का रूप धारण किया। पूछताछ करने पर पता चला कि इस पंथ की अपनी विशिष्ट आचारपरंपरा[3] के साथ साथ काव्यपरंपरा भी है, यद्यपि वह सारी की सारी अप्रकाशित है।

१. भारतीय हिंदी परिषद् के वल्लभ विद्यानगर (गुजरात) अधिवेशन (१९६०) में पठित शोध निबंध।

२. स्वर्गीय आचार्य चंद्रबली पांडे ने 'तुलसी को जीवनभूमि' नामक ग्रंथ में अवश्य ही एक स्थान पर अथवा तुलसी चौरा के प्रसंग में मोहन साँई का एक लंबा पद उद्धृत किया है जिसका इस दिशा में अपना ऐतिहासिक महत्व है।

३. पंथ के अनुसार 'साँई' शब्द मूल रूप में अखिल विश्व के परम स्वामी और परम प्रियतम परात्पर सत्ता का बोधक एक सिद्ध नाम है और सद्गुरु में उस परात्पर के दर्शन की भावना के फलस्वरूप वही 'मोहन साँई' तथा पंथ के अन्य गुरुओं के नाम के साथ श्रद्धासंमान सूचक उपाधि का रूप धारण कर लेता है। इस पंथ के सभी गुरु साँई बाबा के नाम से पुकारे जाते हैं। इनमें गृहस्थ अनुयायियों को छोड़कर विरक्त साधुओं में प्रायः सिर मुड़ाने, मूँछ मुड़ाने और लंबी दाढ़ी रखने की चाल है। निजी व्यवहार में भोजनपानादि के लिये ये मिट्टी के पात्रों का प्रयोग करते हैं।

इस परंपरा का सर्वाधिक प्रामाणिक एवं प्रतिष्ठित आदि ग्रंथ है मोहन साँईं कृत 'अरस बेगम सार' जिसकी एक हस्तलिखित प्रति उक्त पंथ के एक गृहस्थ अनुयायी के अनुग्रह से उपलब्ध हो सकी। तुलसी के परवर्ती संत की इस कृति का रचनाकाल अभी निश्चित रूप से नहीं ज्ञात हो सका है।

'अरस बेगम सार' में कुल मिलाकर २३६ पद हैं जिन्हें रचयिता ने निर्गुण काव्यरूढ़ि के अनुसार 'शब्द'[1] नाम से अभिहित किया है। टकसाली अवधी में रचे हुए ये 'शब्द' विभिन्न राग रागिनियों में और तर्जों पर हैं जिनमें अधिकांश का आधार लोकसंगीत प्रतीत होता है।' 'शब्द भजन', शब्द मंगल', 'शब्द नेछू', 'शब्द छपका' और 'शब्द कहरा' जैसे शब्दभेदों में पदों का वर्गीकरण ग्रंथ के लोकसांस्कृतिक ढाँचे का स्पष्ट प्रमाण है। सभी पदों के अंतिम अंश में 'मोहन' अथवा 'मोहन शाह' के नाम की छाप अंकित है। ग्रंथ के आरंभ में आए हुए निम्नलिखित वाक्य एक विशिष्ट प्रकार की मंगलाचरणविधि का संकेत करते हैं—

सति साईं गुरुदाता

> **सति साईं सतगुरु दीनदयाल की दाया अरस बेगम सार ॥**
> **भाषा सतगुरु मोहन साह बोलौ हंसौ सतगुरु समरथ की जै जै जै ॥**

ग्रंथ के अंत में आए हुए निम्नलिखित वाक्य भी एक निश्चित संस्कार का पुट लिए हुए हैं—

सति सतगुरु दीन दयाल साईं मोहन महबूब की दाया। अरश बेगम सार समपूर ॥ बोलौ सतगुरु साईं समरथ बंदी छोर जै जै जै।

ग्रंथ में प्रयुक्त शब्दावली सर्वथा कबीर द्वारा प्रवर्तित पारिभाषिक प्रयोगों से मेल खाती है। कहीं प्रभु की अहैतुकी दयालुता, कहीं 'हरिजन के' लक्षण; कहीं 'नामसाधना का चमत्कार', कहीं तीर्थव्रतादि बाह्याचारों की निरर्थकता, कहीं गुरुमहिमा, कहीं हठयोगसाधना की दुर्लभ स्थितियों की सिद्धि, कहीं उन्मुक्त प्रेमघटा की मोहिनी छटा, कहीं माधुर्यभाव से परिप्लावित रहस्यमय आध्यात्मिक संबंधों की मस्ती, कहीं ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, मुक्ति, कर्म, निर्गुन, सगुन, सुरति,

[1] रहन सहन में ऊपर से देखने में मुसलमान से लगते हैं, भीतर से संस्कार में हिंदू जैसे। सामान्यतः इनकी सारी रहनी सहनी पर कबीर जैसे निर्गुनियाँ संतों की छाप प्रत्यक्ष है।

निरति आदि की सापेक्षिक महत्ता के चित्रण 'मोहन साईं' की समर्थ अनुभूतियों की काव्यात्मक अभिव्यंजना हुई है।

'अरस बेगम सार' के रचयिता की श्रद्धा और भक्ति का दृष्टिकोण बड़ा उदार एवं व्यापक है जिसकी स्पष्ट झलक निम्नलिखित पंक्तियों में निर्दिष्ट विभिन्न कोटि के भक्तों, संतों एवं योगियों की सूची में मिल जाती है —

> धना के धरम करम प्रभु राखेव
> छीप की सोच कियो हरिनामा।
> रतना मीरा करमा बाई सोना दास चरन की आसा।
> गोपीचंद मुछन्द्र गौरव तजिन राज काज सब आसा॥
> पीपादास दरस के भूषै कूदे सिंधु गये हरि पासा।
> भरथरी देस भेष करि त्यागा योग जलंधर किहिन निरासा।
> रामानन्द कबीर पुकारेव तुलसी सूर नानक रैदासा।
> जन सुलतान तक्त तजि भागै भये फकीर नाम की आसा॥
>
> —पद १०

अपने मंत्रातीत, यंत्रातीत, अक्षरातीत, अलख परात्पर के पोषक न्यारे मत का निरूपण करते हुए मोहन साँईं कहते हैं—

> अवधू ऐसौ मता हमारा।
> ना हुवां ओहंग न हुवा सोहं नाम निअक्षर न्यारा।
> न हुआ ब्रह्मा विष्णु महेसा नाही सृष्टि पसारा।
> पानी पवन रवि ससि हुआ नाहीं नाहीं तिरथ जलधारा।
> वेद पुरान कुरान न देखा नाहीं करम अचारा।
> मंत्र जंत्र पाट नहीं पूजा नाहीं न भेष पसारा।
> कुलिस कांसा पाथर नहीं देवा नाहीं वरन विचारा।
> असी धाम के पार धाम है तहां अलष टक सारा।
> मोहनसाह लषै कोई हरिजन जो सति सरनसि धारा।
>
> —पद १३

उनकी दृष्टि में निःकरमी भक्ति 'अर्थात् कर्माडंबर रहित' सहज भक्ति ही सब साधनों से परे साधन है जिससे जीते जी मुक्ति की अनुभूति हो जाती है। उन्हीं के शब्दों में—

> सब तै परे भक्ति निःकरमी जिअत मुक्ति विज्ञानी।
>
> —पद २२

अपने अगम निसान का उल्लेख करते हुए आदि सरयू, गुप्तारघाट, सरगद्वार, चित्रकूट, मथुरा, विश्रामघाट तथा चारों धामों का जो आध्यात्मिक रूपक साईं बाबा ने बाँधा है उसमें अवध धाम के प्रति एक प्रकार की परोक्ष निष्ठा का बीज भी देखा जा सकता है—

अगम निसान निरखि जेहि आवै।
आसन अवध सदन सुख सरयू
गुप्त गुप्तार गुपुत ध्यान मन लावै।
सरग दुवार सरग पर सुरति
सुरति नाम घाट ठहरावै।
चित्रकोटि चितवनि चित भीतर तहाँ चित चितमनि मिलावै।
मन मथुरा विस्वास विश्राम घाट है दुतिया दुरमति धोय बहावै।
चारिउ धाम धरम की चौकी तहि सर जगी जोग व्रत बनावै।
मोहन साह पास सब तीरथ जो पुहकर पूरा गुरुमत पावै।
—पद २४

कोरे वाक्यज्ञानियों की कठोर भर्त्सना करते हुए उन्होंने 'भक्तिभेद से अपरिचित' झड़ाझड़ साखी शब्द मारनेवाले वैरागी अधकचरे निर्गुनियों की भी खूब खबर ली है—

बाना बाँधि भये वैरागी।
भक्ति भेद न पावै। साखी शब्द झड़ाझड़ मारै। —पद ३७

इस झाड़ फटकार के साथ साथ अपने आराध्य के प्रति दास्यभाव की साधना के सूचक पदों में उनकी सहज दीनता एवं अनहंकृति भी द्रष्टव्य है—

मोहन साह विस्वास आस हरि की
चरनन भक्ति प्रीति विढ़ कीनी। —पद ३८

× × × ×

आसिक जानि मोहन का तारो दास तुम्हारे होई।
—पद ६०

परंतु साँईंजी का सबसे मनोहर एवं दर्शनीय रूप उन स्थलों पर अनेक सतरंगी चित्रों के माध्यम से खुलकर निखरा है जहाँ उनकी माधुर्यभाव भरी रहस्यानुभूति की तन्मयता अभिव्यक्त हुई है। स्थानसंकोच के कारण केवल कुछ ही स्थल उद्धृत किए जा रहे हैं—

सखि अठिलाय सीस लिहे गगरी।
कर नहीं छुवै हाथ न हिलावै सुरति की डोर प्रेम से पकरी।
पाँच पचीस तीस जन विसुनी तिन्हैं बचाय गैल बिच सकरी।

मत मुस्काय सुरति तन लाके चमकि झमकि गई पिया की नगरी।
मोहनसाह लखी कोई सुहागिन जिन पकरि बांह बलम संग झगरी।

—पद १०

× × × ×

सुरति संभारू गगरिया न छलकै।
सागर शब्द गहिर अहै पानी उमर लहरिया निसु दिन हलकै।

—पद २७

× × × ×

रीझेव सजन सुरति में तुम्हरी।
तुम्हरी सुरति पिया बसि बसि जइहौं लगि ताको तुम और हमरी।
मोहन साह पिया सुष समुझत लागी प्रीति भयो तन दुबरी।

—पद ३०

बलम मुसकावे मोरी हमका देखिन।
रहेन भुलाइ आज यहि नैहर भये दयाल आपु से भेटिन।
औरन को पिया नजर न आवे मोहन पर रीझे हैं सेतिन।

—पद १८०

× × × ×

यही वह अखंड मस्ती है जिसमें मोहन साँईं बैकुंठ और मुक्ति जैसे दुर्लभ पदार्थों को तुच्छ समझ कर अपने सनम की मोहिनी को निरखते हुए दिन रात छके रहते हैं—

बेहस्त बैकुंठ भार में झोंका
मुक्ति देषि दुरिआता है।
मोहन माशूक गले में लाये
मनमानी मौज उड़ाता है।

—पद २३१

निरषत है दिन राति सनम को मोहन मोहिनी डारी।

—पद २१६

यत्र तत्र पदों में लोकगीतों की जो स्वच्छंद छटा प्रवाहित है उसकी बानगी में निम्नलिखित पंक्तियाँ ही पर्याप्त होंगी—

कासी सहर मोर नैहर जावा
बेनी मोरि ससुरारि हो।

तरुनी वयस मोरि आई रे बाबा
अब मेरा रचौ बिवाह हो।
तुम संघ मोर निवाह न बाबा
अब भयो व्याहन जोग हो।
भौजी मोहि खिजावति निसुदिनि
और नगर के लोग हो।
बेगि बोलाव ज्ञान दीजै बाबा
सोधे सुषमनि बार हो।
नउवा निरति पटायो मोरे बाबा
बर खोजै सिरजन हार हो,
ब्रह्मा बेद पढ़ायो बाबा बिस्नु भरे जहँ पानी हो।
करम दान संकलपेद बाबा भई है कुमति को हानी हो।
× × × ×
पत्रिया सुरति बाँधि गठबंधन प्रीतम आपन कीन हो।
सषी मोहन साह सतगुरू समरथ सिर सेंदुर जिन दीन हो।
अमर सोहाग जुगन जुग आपन सतपुर दरसन लीन हो।

—पद ६५

*

पुलिस

अजय मित्र शास्त्री

नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६७, अंक २ पृ० १६४–६५ में डा० देव-सहाय त्रिवेद का 'पुलिस' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि पुलिस शब्द मूलतः भारतीय है, और उसे यूनानी शब्द पोलिस से निकला हुआ नहीं माना जा सकता। प्रस्तुत लेख में डा० त्रिवेद के इस मत पर पुनर्विचार का प्रयास है।

१. डा० त्रिवेद ने कहा है कि पुलिस शब्द सम्राट् अशोक के अभिलेखों में मिलता है। अशोक की धर्मलिपियों में पुलिस शब्द के अधोनिर्दिष्ट रूपों का प्रयोग दृष्टिगत होता है—

पुलिसा—प्रथम स्तंभलेख, दिल्ली-टोपरा प्रति, पं० ७–पुलिसा पि च मे;[1]
सप्तम स्तंभलेख, दिल्ली-टोपरा प्रति. पं० २२।[2]

पुलिसानि—चतुर्थ स्तंभलेख, दिल्ली-टोपरा प्रति. पं० ८–पुलिसानि पि मे।[3]

पुलिसे—धौली पृथक् शिलालेख, पं० ७, ८–एकपुलिसे।[4]

प्रथम दो स्थलों पर हुल्श ने 'पुलिस' का अर्थ एजेंट किया है, जब कि तीसरे स्थल पर उसे किसी एक व्यक्ति (सम सिंगल पर्सन के) अर्थ में लिया गया है। डा० ल्यूडर्स के अनुसार 'पुलिसानि' 'पुलिसा' का द्वितीयांत रूप है।[5] अशोक की धर्मलिपियों के इसी साक्ष्य के आधार पर डा० त्रिवेद का मत है कि पुलिस शब्द भारतीय है। इसमें संदेह नहीं कि जिस रूप में यह शब्द अशोक के अभिलेखों में प्रयुक्त हुआ है, वह पूर्णतः भारतीय है। किंतु वास्तविक प्रश्न यह है कि जिस अर्थ में आज इस शब्द का प्रयोग होता है उस अर्थ में प्राचीनकाल में इस शब्द का व्यवहार होता था अथवा नहीं। जहाँतक हमें ज्ञात है 'आरक्षी' के अर्थ में पुलिस शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय साहित्य अथवा अभिलेखों में कहीं

१. हुल्श, कार्पस् इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, खंड १, पृ० ११६।
२. वही, पृ० १३०।
३. वही, पृ० १२३।
४. वही, पृ० ९२।
५. वही, पृ० १२४, पादटिप्पणी ८।

भी उपलब्ध नहीं है। किसी संस्कृत अथवा प्राकृत कोश में भी इस शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। डा० त्रिवेद इस कठिनाई से परिचित हैं, और इसको दूर करने के यत्न में लिखते हैं कि 'भारतीय शब्दकोशों में इस शब्द की अप्राप्ति का कारण यही हो सकता है कि इसके पीछे भारतीयों की विचित्र मनोवृत्ति ही प्रमुख रही है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस शब्द को भारतीय स्वीकार नहीं किया अतः किसी भी कोश में यह शब्द स्थान न पा सका।' इस प्रकार पुलिस शब्द को शब्दकोशों में स्थान न मिल सकने का दोष डा० त्रिवेद ने पाश्चात्य विद्वानों के मत्थे मढ़ दिया है। यदि तर्क के लिये यह मान भी लिया जाय कि आधुनिक कोशों में इस शब्द की अप्राप्ति के लिये प्रतीच्य विद्वान् उत्तरदायी हैं, तो भी इस कठिनाई का अंत यहाँ नहीं होता। अमरकोश, वैजयंती इत्यादि प्राचीन कोशों में भी इस शब्द का उल्लेख नहीं है। क्या इसके लिये भी पाश्चात्य विद्वान् दोषी ठहराए जा सकते हैं? क्या प्राचीन भारतीय कोशकार भी अपने कोशों में शब्दों के चयन के लिये पश्चिमी विद्वानों पर आश्रित थे? अपने वर्तमान अर्थ में पुलिस शब्द की अभारतीयता का सबसे सबल प्रमाण प्राचीन भारतीय साहित्य अथवा अभिलेखों में उसकी अनुपलब्धि है। प्राचीन भारतीय साहित्य में पुलिस संस्था का उल्लेख अवश्य आया है, किंतु उसके लिये पुलिस शब्द का प्रयोग कहीं दृष्टिगत नहीं होता। उसके लिये अन्य शब्दों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ कविकुलगुरु कालिदास ने अभिज्ञान शाकुंतल के छठे अंक में सिपाहियों के लिये रक्षिन् शब्द का व्यवहार किया है।

२. अशोक के लेखों में व्यवहृत 'पुलिसा' साधारणतः पुरुष शब्द का अपभ्रष्ट रूप माना जाता है। किंतु डा० त्रिवेद को यह निष्पत्ति मान्य नहीं है। वे लिखते हैं कि पुरुष का अपभ्रंश रूप पुलुष या पुलुस भले ही हो सकता है, पर उससे पुलिस कैसे बनेगा। उनके अनुसार पुलिस शब्द स्यात् पुरीश (पुरी+ईश) शब्द का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ होगा नगर का स्वामी या रक्षक। डा० त्रिवेद का यह मत भ्रामक है। इस अर्थ में पुरीश शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय साहित्य में कहीं भी नहीं मिलता। मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त के महामंत्री कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में नागरिक प्रशासन का विस्तृत वर्णन किया है (अधिकरण २, अध्याय ३६)। किंतु वहाँ पुलिस अथवा पुरीश नामक किसी कर्मचारी की चर्चा नहीं है। वहाँ नगर के अधिकारी के लिये नागरिक और उसके चतुर्थ भाग के प्रशासन के लिये उत्तरदायी अधिकारी के लिये 'स्थानिक' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके विपरीत यह स्पष्ट है कि अशोक के लेखों में उपलब्ध पुलिस शब्द पुरुष का अपभ्रंश है, पुरीश का नहीं। 'र' और 'ल' परिवर्तनीय हैं, अशोक के लेखों में इसके अनेक उदाहरण दृष्टिगत होते हैं; यथा, राजुक > लाजुक,

राजा > लाजा, चरण > चलन, संसरण > संसलन।[6] इसी प्रकार 'उ' के 'इ' में परिवर्तित होने के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं, यथा—मानुष > मुनिस; पुरिन्द > पिलद।[7] इस प्रकार यह निर्विवाद है कि पुलिस शब्द पुरुष से निकला है। इस मत की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि प्रथम पृथक् शिलालेख की धौली प्रति में जहाँ 'एकपुलिसे' शब्द प्रयुक्त है, वहीं 'जौगड' प्रति में 'एकमुनिसे' शब्द का व्यवहार किया गया है। 'मुनिस' 'मानुष' का अपभ्रष्ट रूप है। मानुष और पुरुष समानार्थक है। अतः इसमें संशय के लिये अवकाश नहीं रह जाता कि अशोक के लेखों में प्रयुक्त पुलिस शब्द पुरुष का ही अपभ्रंश है। इस प्रसंग में यह उल्लेख्य है कि पुरुष शब्द का प्रयोग प्राचीनकाल में अनेक अर्थों में होता था, जिनमें से एक अर्थ था राजकर्मचारी। राजपुरुष शब्द से संस्कृत के सभी विद्यार्थी परिचित हैं। महाभारत (अनुशासन पर्व १२६। २४) में राजपौरुषिक शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत है।

संप्रति पुलिस शब्द का व्यवहार उसी अर्थ में होता है जिसमें प्राचीनकाल में रक्षिन् शब्द का प्रयोग होता था इस अर्थ में पुलिस शब्द मूलतः भारतीय न होकर यूनानी शब्द पोलिस से ही निकला है इसमें संदेह नहीं। इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि अशोक के पूर्व अथवा पश्चाद्वर्ती किसी भी भारतीय ग्रंथ में पुलिस शब्द अपने वर्तमान अर्थ में व्यवहृत नहीं मिलता। इस प्रकार स्पष्ट है कि डा० त्रिवेद की उपर्युक्त दोनों धारणाएँ निर्मूल हैं।

*

६. मेहेंदले, अशोकन इंस्क्रिप्शंस इन इंडिया, पृ० १४।

७. वही, पृष्ठ ७।

कामायनी में 'प्रत्यभिज्ञा'

रामसूर्ति त्रिपाठी

कामायनी के अंतर्गत 'प्रत्यभिज्ञा' की स्थिति कहाँ मानी जाय, इस प्रश्न पर विचारकों में पारस्परिक मतभेद दृष्टिगोचर होता है। कुछ विचारक यह स्वीकार करते हैं कि 'कामायनी' में 'प्रत्यभिज्ञा' का स्थल और क्षण 'दर्शन 'सर्ग' में ही आ गया है और अपने समर्थन में वे दर्शन' सर्ग की ये पंक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं —

तुम देवि आह कितनी उदार,
वह मातृ मूर्ति है निर्विकार;
हे सर्वमंगले! तुम महती,
सबका दुःख अपने पर सहती;
कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा निलय में हो रहती;
मैं भूला हूँ तुमको निहार,
नारी-सा ही! वह लघु विचार।

इन पंक्तियों में मनु शक्तिस्वरूपा 'श्रद्धा' की प्रत्यभिज्ञा कर रहे हैं। श्रद्धा शिवात्मक 'मनु' की स्वरूपभूता शक्ति' ही है। अपनी शक्ति को पहचानना ही तो अपने को पहचानना है। इस प्रत्यभिज्ञा' के फलस्वरूप 'आवरणपटल की ग्रंथि' खुल जाती है और केवल प्रकाश का 'उल्लास' तथा मधु किरणों की लोल लहर' तरंगायित होने लगती है। 'मधुकिरणों चिदानंदमयी स्वरूप स्थिति का प्रतीक हैं। अर्थात् मनु चिदानंदमय स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गए हैं।

दूसरे लोगों का यह विचार है कि यह 'दर्शन' श्रद्धा ने अपनी संविन्मयी किरणों के प्रभाव से कुछ क्षणों के लिये मनु को करा दिया था, जो सद्यः अप्रत्याशित ढंग से विलुप्त भी हो जाता है फलतः मनु व्याकुल होकर कह उठते हैं

यह क्या श्रद्धे! बस तू ले चल
उन चरणों तक, दे निज संबल

और श्रद्धा पुनः उन्हें आगे ले चलती है। अपने पक्ष की पुष्टि में वे लोग तंत्रालोक की एक पंक्ति भी उद्धृत करते हैं - यस्य पुनः परप्रत्ययानपेक्षत्वेन पर तत्व एव भावनादार्ढ्यं स जीवन्नेव मुक्तः[1] आदि। अर्थात्ववजी मुक्त वह है जो

1. तंत्रालोक, १३ आ०, पृ० ११७।

'पर' द्वारा उत्पादित 'प्रत्यय' की अपेक्षा न करके स्वतः भावनादाढर्यवश 'परतत्व' का साक्षात्कार (दर्शन) कर ले। दर्शनसर्ग में मनु को जो 'दर्शन' है वह परकीय सामर्थ्य (श्रद्धा-सामर्थ्य) वश उद्भूत प्रत्यय है जो कुछ ही देर बाद विलीन भी हो जाता है। इसी लिये मनु व्याकुल होकर चिल्ला पड़ते हैं— 'यह क्या श्रद्धे ?' निष्कर्ष यह कि स्थायी और वास्तव प्रत्यभिज्ञा मनु को तब होती है जब वही श्रद्धा मनु को स्वस्वरूपबोध के लिये पुनः चेताती हुई कहती है— 'इस त्रिकोण के मध्य बिंदु तुम' इच्छा-ज्ञान एवं क्रिया जैसी शक्तियों या बिंदुओं के मूल में 'अविभाजेन अवस्थित' 'बिंदु' तुम्हीं हो। त्रिपुर के रूप में दृष्टिगोचर होनेवाले ये त्रैपुर-त्रिकोण-सर्जक 'बिंदु' जो विश्व का प्रतिनिधित्व करते हैं— तुम्हारी मूल शक्ति के ही प्रसार हैं। इस गुरुदीक्षा (कथन दीक्षा) के मूलस्वरूप ही वस्तुतः मनु को स्थायी प्रत्यभिज्ञा होती है।

इन परस्पर विरोधी स्थापनाओं में किसी एक के पक्षविपक्ष में कहने का अभिप्राय कवि पर भी आक्षेप है। अतः देखना यह है कि खंडदृष्टियों या विरोधी दृष्टियों के मूल में कवि की अखंडदृष्टि या अविरोधी दृष्टि क्या है ?

मेरा अपना विचार तो यह है कि इस अखंडदृष्टि का पता लगाने के लिये उस पृष्ठभूमि का सैद्धांतिक विवेचन आवश्यक है जो प्रत्यभिज्ञा के लिये अपेक्षित है। प्रत्यभिज्ञा या स्वरूपबोध के लिये पारमेश्वर 'शक्तिमान्', गुरु-'दीक्षा' एवं साधककृत 'उपाय' अपेक्षित हैं। मनु में पारमेश्वर शक्तिपात का उदय दर्शनसर्ग में हो चुका है। इसका लक्षण है—गुरु में भक्ति का उदय।[2] 'श्रद्धा ही यहाँ निर्देशक गुरु के रूप में है। यह शक्तिपात तीव्र-तीव्र और 'तीव्र-मध्य' कोटि का नहीं है, अन्यथा या तो उसका सद्यः शरीरपात हो गया होता या स्वतः (गुरुनिरपेक्ष) प्रातिभ ज्ञान का उदय हो गया होता। अतः 'मंदतीव्र' शक्तिमान ही समझना चाहिए। इस कोटि के शक्तिमान के होने पर साधक में स्वतः गुरु के पास जाने की इच्छा होती है—'मंद-तीव्र' की एक वह स्थिति भी है जब स्वयं गुरु ही साधक के पास आ जाता है। यद्यपि 'तंत्रालोक' में इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है— तथापि संकेत की जगह है।[3] अस्तु इस कोटि का शक्तिपात हो

२. शिवे भक्तिरेव शक्तिमान इति लिङ्गलिङ्गिनोरभेदोपचारात। भक्तिर्हि नामास्य प्राथमिकं चिह्नम्।—तंत्रालोक, अ० १३, पृ० ९१।

३. एवं जिवामिषायोगादाचार्यः प्राप्यते स च। (प्राप्नोति)-वही, पृ० १३१।

जाने पर गुरु अनेक प्रकार से दीक्षाकार्य संपन्न कर सकता है और यह दीक्षा 'सद्यः शिवप्रदा' होती है।[४] यह दीक्षा 'कथनदीक्षा' 'संगमदीक्षा' 'अवलोकनदीक्षा' आदि विभिन्न रूपों की हो सकती है। यहाँ प्रसाद जी की 'श्रद्धा' से कुछ कहवाना है—अतः 'कथनदीक्षा' ही मान लेनी चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि शक्तिपातगत मंदतावश साधक बिना परोक्ति के कुछ जान भी नहीं पाता। तंत्रा-लोककार ने यहाँ यह भी कहा है कि इस प्रकार की दीक्षा से 'सामरस्य' लाभ हो जाता है और देह के रहने पर भी 'परसंविद् विश्रांति' उत्पन्न होती है जिसके कारण उसे जीवन्मुक्त कहा जाता है। उन्होंने यह भी कहा है कि जिस काल में गुरु निर्विकल्प की स्थिति पैदा करता है, उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है। निष्कर्ष यह कि इस पृष्ठभूमि पर जब दर्शनसर्ग की प्रक्रिया को देखा जाय तो निस्संदेह यह मान लेना सही जान पड़ता है कि मनु को प्रत्यभिज्ञा वहीं हो जाती है, पर 'कथनदीक्षा' के माध्यम से जो 'रहस्य' का समझाना है वह इस त्रिकोण के मध्य 'बिंदु' तक चलता रहता है। यह विस्तार कवि केवल पाठक की दृष्टि से करता है अथवा वक्तव्य के विशदीकरण की दृष्टि से कहना आवश्यक मानता है। मनु के अंतर जगत् में होनेवाली प्रत्यभिज्ञा और उसके परिणाम मे 'क्रम' और 'विलंब' का क्या स्थान है? इस 'त्रिकोण के मध्य बिंदु' उसी पूर्वारब्ध 'कथनदीक्षा' का ही अंश है। इसके द्वारा श्रद्धा (गुरु) यह समझा देती है कि यह 'इच्छा, ज्ञान और क्रिया' तुम्हारी स्वातंत्र्यात्मा इच्छा का ही प्रसार है। इन इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के रूप में विभक्त बिंदुओं के मूल में अविभागेन अवस्थित परबिंदु तुम्हीं हो। अभिनवगुप्त ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए तंत्रालोक में कहा है -

उदितायां क्रियाशक्तौ सोमसूर्याग्निधामनि
अविभाग प्रकाशो यः स बिंदुः परमो हि नः।[५]

अर्थात् अशुद्धाध्वा का 'बोध' अनात्मा में आत्मा का बोध है—देहात्मबोध है शुद्धाध्वा में आने से पूर्व विज्ञानाकल प्रभाव में (जो मामोत्तीर्ण तो है पर महामाया राज्य या शुद्धाध्वा में अप्राविष्ट है) स्वातंत्र्यहीन शुद्धा बोध रहता है। शुद्धाध्वा में आने पर 'बोध में 'स्वातन्त्र्याख्या' क्रिया शक्ति का उदय हो जाता है और ज्यों ज्यों यह स्वातंत्र्याख्या क्रिया 'शक्तिबोध' के साथ समरस होने की ओर उन्मुख होती है, त्यों त्यों वह भिन्न रूप में प्रतीत होनेवाली इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया को

४. वही, पृ० १४१।
५. वही, ३ आ०, पृ० ११६।

एकाकार करती हुई अपने में समेट लेती है और मूल बिंदुरूपा शिव से समरस हो जाती है। 'स्वातंत्र्य' और 'बोध' का सामरस्य ही सामरस्य है। इस प्रकार यह समरस 'बिंदु' ही हो तुम - मनु - श्रद्धा ने समझाया। निष्कर्ष यह कि समझने समझाने के लिये यह व्यवधान और क्रम है। नस्तत: जहाँ दिशा और काल ही नहीं हैं वहाँ तत्त्वापेक्ष 'क्रम' और 'व्यवधान या विलंब' का सवाल ही क्या? स्वयं दर्शनसर्ग में कहा गया है—'थे लुप्त हो रहे दिशाकाल'। अभिप्राय यह कि प्रत्यभिज्ञा को दो स्थानों पर विभक्त करके देखने की जरूरत नितांत अादर्शनिक है।

कहा जा सकता है कि दर्शनसर्ग की 'प्रत्यभिज्ञा' वास्तव और स्थायी नहीं है—वह तो श्रद्धा द्वारा क्षण भर के लिये कराई गई थी और पुष्टि में दो तर्क भी दिए जा सकते हैं—पहला यह कि स्वयं तंत्रालोक में कहा है—'यस्य पुनः पर प्रत्ययानपेक्षत्वेन परतत्व एव भावनादार्ढ्यं स जीवन्नेव मुक्तः'—अर्थात् 'पर' या अन्य द्वारा कराए गए 'प्रत्यय' (प्रत्यभिज्ञानात्मक ज्ञान) से निरपेक्ष स्वतः उपलब्ध बोध से होनेवाला परतत्वसाक्षात्कार तथा उसकी प्रत्यभिज्ञा ही स्थायी होती है। दर्शनसर्ग की प्रत्यभिज्ञा स्वतः उपलब्ध नहीं है, वह तो अन्य द्वारा कराई गई है। दूसरा तर्क यह कि 'दर्शन' वाला बोध क्षणिक था, अतएव सहसा विलुप्त हो गया और सहसा विलुप्त होने पर ही मनु का यह कहना 'यह क्या! श्रद्धे। बस तू ले चल उन चरणों तक दे निज संबल।' संगत हो सकेगा। उक्त उद्धरण के 'यह क्या श्रद्धे'—द्वारा उन्होंने अपनी व्याकुलता प्रकट की है और 'ले चल उन चरणों' द्वारा अभी आध्यात्मिक यात्रा की अपूर्णता सूचित की है। इस प्रकार विचारकों का यह दल 'दर्शनसर्गवाले बोध' को वास्तव बोध की भूमिका नहीं मानता।

परंतु थोड़ा गहराई में उतरने पर इन तर्कों की असारता स्पष्ट हो जाती है। जहाँतक तंत्रालोककार के उद्धरण का संबंध है उसका वह अर्थ ही नहीं है जो अर्थ किया गया है। तंत्रालोक में ठीक इसी उद्धृत अंश के पहले यह कहा गया है—'सिद्धि जालं हि कथितं परप्रत्ययकारणम्'।[६] अर्थात् कुछ ऐसे साधक होते हैं जिन्हें जीवनकाल में आध्यात्मिक साधन से उपलब्ध सिद्धियाँ ही इस सिद्धांत के प्रति प्रत्यय (विश्वास) का कारण होती हैं कि उन्हें मरने के बाद मुक्ति मिलेगी। अर्थात् इन लोगों को जबतक कुछ चमत्कार न दिखाई पड़े तबतक सिद्धांत में या परतत्व में आस्था और विश्वास दृढ़ नहीं होता। दूसरे लोग वे होते हैं जिन्हें सिद्धिनिरपेक्ष परतत्व में आस्था होती है। इस प्रकार उक्त

६. वही, पृ० ११६।

पंक्ति का यह अर्थ ही नहीं है कि जिसे 'पर' द्वारा 'प्रत्यय' होता है, उसे स्थायी आत्मबोध नहीं होता, एतदर्थ तो निरपेक्ष बोध होना चाहिए। इसका अर्थ है कि सिद्धि लाभमूलक नहीं, वरन् अभ्यासजनित भावना की दृढ़ता है जिससे परतत्व-बोध होता है और जीवन्मुक्ति हो जाती है। दूसरे जब स्वयं तंत्रालोककार यह स्वीकार करते हैं कि गुरु द्वारा निर्विकल्पबोध कराते ही साधक जीवन्मुक्त हो जाता है-तो उन्हीं के ग्रंथ का आशय उन्हीं के विरुद्ध लगाना कहाँतक ठीक और संगत है?

दूसरा तर्क है—यह क्या श्रद्धे? की संगति दृश्यलोप से बिठाना। इसके भी पहले की पंक्ति पर ध्यान दें तो सारी भ्रांति मिट जायगी। वहाँ कहा गया है—

देखा मनु ने नर्तित नटेश
हतचेत पुकार उठे विशेष
यह क्या श्रद्धे!......... इत्यादि।

यहाँ दृश्यलोपवश नहीं, बल्कि दृश्य या स्वरूप साक्षात्कारवश है। विस्मयावेश में वे बोल उठे—'यह क्या श्रद्धे!' गीताकार ने भी कहा है — आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनं आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। इस आत्मतत्व को लोग आश्चर्यवत् देखते हैं। आध्यात्मिक साक्षात्कार का यह विस्मयोल्लास है। इसे व्याकुलता का व्यंजक मानना असंगत कल्पना है। रहा यह कि यदि स्वरूपबोध हो ही गया तो फिर वह श्रद्धा से 'ले चल उन चरणों तक' क्यों कह रहे हैं? क्या उनकी यात्रा अभी अपूर्ण है? इसपर भी मेरा कहना यह है कि सैद्धांतिक दृष्टि से आत्मबोध के लिये कहीं आना और जाना ही असंगत है। सर्वत्र व्यापक एवं एवं एकरस आत्मा की प्रत्यभिज्ञा के बाद कहाँ आना और कहाँ जाना? यह कथन केवल समझने समझाने के लिये काव्य की मूल कथा वाली प्रतीकात्मक भूमिका का बढ़ाव है। इसी लिये यह भी समझना भूल है कि शुद्धाध्वा का प्रमाता मनु अशुद्धाध्वा के त्रिकोण की स्थिति का रहस्य जानना चाहता है। वस्तुतः जिस स्तर का प्रमाता है उसी के स्तर पर वह प्रमेय भी है। शुद्धाविद्या तो स्वयं 'त्रिकोण' कही गई है, जहाँतक इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया स्फुटतर हो गए रहते हैं। अस्तु, बाद का सारा बहाव उक्त तथ्य का केवल विशदीकरण है। 'कथनदीक्षा' का ही प्रसार है। अतः 'दर्शन' और 'रहस्य' के प्रत्यभिज्ञा को दो कहना, पूर्व की अपेक्षा उत्तर का स्थायी मानना, एक भारी दार्शनिक भ्रांति खड़ी करना है। मनु एवं श्रद्धा का शिव-शक्ति-बोध एवं स्वातंत्र्य का सामरस्य तो

दीक्षा के अनंतर शांभवोपायवश 'शांभवसमावेश' के रूप में संपन्न हो गया है और इसे दर्शनवाले सर्ग में ही मान लेना असंगत नहीं है।

'दर्शन' की प्रत्यभिज्ञा को नकारने में कवि के पूर्ववर्ती समारंभ पर भी आपत्ति मानी गई है। स्वयं एक नहीं अनेक स्थलों पर 'दर्शन' के पूर्व मनु को चेताया गया है कि यदि वह 'पूर्णकाम होना चाहता है, 'पूर्णाहिता' का उदय चाहता है तो वह इस श्रद्धा को, अमला को पहचाने। काम सर्ग में 'काम' की अशरीरिणी वाक् है कि 'उसको पाने की इच्छा हो, तो योग्य बनो'। मनु भी विकल हो उठते हैं और कहते हैं कि—उस ज्योतिमयी को देव कहो कैसे कोई नर पाता है?' मनु उसे पाकर भी पहचानता नहीं। इड़ा सर्ग में पुनः 'काम' उसे उद्बोधित करता है 'मनु तुम श्रद्धा को गये भूल'। मनु परेशान हैं, वे कहते हैं—

> क्या मैं भ्रांत साधना में ही अब तक लगा रहा
> क्या तुमने श्रद्धा को पाने के लिये नहीं सस्नेह कहा
> पाया तो, उसने भी मुझको दे दिया हृदय निज अमृत धाम
> फिर क्यों न हुआ मैं पूर्ण काम ?

वस्तुतः 'प्रत्यक्ष' और 'प्रत्यभिज्ञा' में यही तो अंतर है कि यहाँतक मनु उसे प्रत्यक्ष कर रहा है पर प्रत्यभिज्ञान नहीं हो रहा है। बिना प्रत्यभिज्ञान के पूर्णता की स्थिति संभव नहीं। यही प्रत्यभिज्ञान उसे 'दर्शन' में होता है—वहाँ वह 'श्रद्धा' को कल्याणमयी एवं निर्विकार रूप में देखता है। सारी पूर्ववर्ती शक्ति की साधना जहाँ आकर उपसंहृत होती है, उसीको नगण्य कह देना क्या संगत है? शक्ति की साधना ही आत्मैव साधना है। कहा जा सकता है कि यदि सदेह पूर्ववर्ती समारंभ का उपसंहार आत्मशक्ति श्रद्धा की प्रत्यभिज्ञा द्वारा मनु के 'पूर्णकाम' हो जाने में ही है तो दर्शनसर्ग में ही काव्य की समाप्ति हो जानी चाहिए। परंतु फिर मैं यहाँ आचार्य वाजपेयी जी के स्वर को दुहराते हुए अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ कि प्रसाद जी को काव्य की भूमिका, युगोचित समाधान की भूमिका भी निबाहनी है, केवल काव्य का अप्रस्तुत दार्शनिक सिद्धांत ही पद्यबद्ध करना 'प्रसाद' जी का लक्ष्य नहीं था। यही कारण है कि कामायनी का अंत सबके आनंद में है।

*

चयन

रसिकोपासना : शोध के कुछ बिखरे सूत्र

[परिषद्-पत्रिका, वर्ष ५, अंक ३, अक्टूबर, १९६५ में प्रकाशित निबंध यहाँ अविकल रूप से प्रकाशित किया जा रहा है ।]

रासमण्डलमध्यस्थं रसोल्लाससमुत्सुकम् ।
सीताराममहं वन्दे सखीगणसमावृतम् ॥

—श्रीरामचरणदास

रामभक्ति में मधुरोपासना का साहित्य प्रायः उपेक्षित रहा है; क्योंकि वह साधकों द्वारा गुप्त एवं गोपनीय मानकर बहुत छिपाकर रखा रह गया और जो कुछ 'बाहर' देखने या सुनने को मिला, उसमें सुरुचि और मर्यादा का नितांत अभाव देखकर पंडितों ने उसकी जी भर भर्त्सना की, उसके संबंध में न कहने योग्य सब कुछ कह दिया। परंतु, अब धीरे धीरे वह सारा साहित्य ज्यों ज्यों प्रकाश में आता जा रहा है, पंडितों की तीखी आलोचनाओं के स्वर में भी कुछ 'नरमाई' आती जा रही है। निश्चय ही, अभी जो कुछ और जितना कुछ प्रकाश में आया है, कुल साहित्य का सहस्रांश भी नहीं है; क्योंकि चित्रकूट में, जनकपुर में, गालतागद्दी (जयपुर) में और अवध के विविध मंदिरों में हजारों ऐसे हस्तलिखित ग्रंथ हैं, जो सैकड़ों वर्षों से बेठनों में बँधे केवल धूपदीप, आरती और चंदन के अधिकारी रह गए हैं। कइयों पर तो चंदन की काफी मोटी परतें पड़ गई है और लगता है, उन्हें खोलकर देखना या पढ़ना उन साधु संतों की दृष्टि में लगभग नास्तिकता के निकट है। अपने अनुसंधान अभियान में प्रायः ऐसी विषम एवं खेदजनक परिस्थितियों एवं दृश्यों से गुजरते समय अपने देश के सांप्रदायिक रूढ़िवाद एवं संकीर्णताओं पर मन खीझकर रह गया। परंतु, अब धीरे धीरे विवेक का उदय और उदारता का संचार हो रहा है। ये शुभ लक्षण हैं।

अभिनवगुप्त के महोपदेशविंशति स्तोत्र में एक श्लोक है—

भगवद्भक्तस्य सञ्जातभवद्रूपस्य मेऽधुना ।
त्वामात्मरूपं सम्प्रेक्ष्य तुभ्यं मह्यं नमो नमः ।।

अर्थात्, मैं तेरा भक्त हूँ। अब तेरा जो रूप है, वही मेरा रूप होकर प्रकट हुआ ; क्योंकि मैं भक्ति के प्रभाव से तेरा सारूप्य प्राप्त कर चुका हूँ। इसलिये तुझको ही आत्मरूप में अथवा निजरूप में दर्शन करता हुआ मैं तुझसे अभिन्न हूँ। ऐसे मुझे और मुझसे अभिन्न तुझे नमस्कार है।

भक्त और भगवान् के बीच द्वैताद्वैत अथवा अचिंत्य भेदाभेद का यह एक विशिष्ट भावबोधक श्लोक है। वास्तव में, भक्त और भगवान् के बीच केवल आनंदोन्मेष के लिये ही द्वैत है, परंतु तत्वतः वहाँ अभेद या अद्वैत ही है। भक्ति की साधना में भक्त देहबुद्धि से भगवान का दास, जीवबुद्धि से भगवान् का अंश और आत्मबुद्धि से भगवान् का स्वरूप होता है। लीला के लिये, क्रीड़ा के लिये, आनंद के लिये ही यहाँ द्वैत है। इस पथ का पथिक यह जानकर चलता है कि यह साधना प्राकृत देह से नहीं होती, साधक देह या सिद्ध देह से होती है। हृदयकमल की कर्णिका में सशक्तिक परम पुरुष का अवस्थान है। भगवान् की महती कृपा से इस ज्योतिर्मंडल में आत्मसाक्षात्कार होने पर भगवान् का वरण या अनुग्रह प्राप्त होता है और उसके प्रभाव से भक्ति का उदय होता है। अंत में लीलाप्रवेश होता है। अनुग्रह का फल है मुक्ति, किंतु परम अनुग्रह का फल है भक्ति।

ज्योतिःस्वरूप गोलोक के बीच में है साकेतधाम जो वस्तुतः गोलोक का अंतःपुर है। साकेत के मध्य में है कनकभवन विहारस्थान। कनकभवन के मध्य में है कल्पवृक्ष, उसके नीचे दिव्य मंडप, उसके मध्यस्थल में रत्नसिंहासन है। इस सिंहासन के मध्य में सहस्रदल कमल है। इसकी कर्णिका बहुत उन्नत है, उसके भीतर बिंदु है। बिंदु में आह्लादिनी शक्ति सहित परात्पर ब्रह्म श्री रामचंद्र जी विराजते हैं। ध्यान का यही स्वरूप है।

भक्त के हृदय में भगवान् के लिये और भगवान् के हृदय में भक्त के लिये जो स्वाभाविक गाढ़ तृष्णा होती है, वही है रागमयी भक्ति, जहाँ हृदय में ही हृदय के द्वारा हृदयेश्वर की रागमयी उपासना होती है। रागानुगा भक्ति साधन नहीं, अपितु साध्य है। इस महानंदप्रदायिनी स्वरूपा भक्ति का विषयावलंबन है स्वयं आत्मस्वरूप भगवान्। भाव की भगवत्प्रीति से जैसे प्रगाढ़ता प्राप्त होती जाती है, वैसे शांत दास्य में, सख्य वात्सल्य में और वात्सल्य माधुर्य में परिणत होता जाता है। भक्त और भगवान् के बीच में कोई भी और सभी प्रकार का संबंध संभव है। जीवमात्र भगवान् का भोग्य है, भोक्ता है, एकमात्र प्रभु ही।

सिद्ध देह से ही लीला में प्रवेश होता है। माधुर्योपासना के अंतर्गत सिद्ध देह की भावना के संबंध में सनत्कुमार तंत्र में कहा गया है—

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोहराम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥

अर्थात् गोपीभाव में अपने को रूपयौवनसंपन्न परम मनोहर किशोरी के रूप में सिद्ध देह से भावना करनी चाहिए। साधक देह में सिद्ध देह की स्फूर्ति किस प्रकार होती है, इसका ज्वलंत उदाहरण हमें बंगाल के वैष्णव इतिहास में इस प्रकार मिलता है। बंगाल के साधक श्रीनिवासाचार्य किसी समय मंजरीदेह से श्रीराधाकृष्ण का ध्यान कर रहे थे। उन्होंने देखा कि श्रीगोपीजनों के साथ श्रीकृष्ण जमुना में जलक्रीड़ा कर रहे हैं। श्रीराधाजी के कान का एक कुंडल जल में गिर गया। सखियाँ खोजने लगीं। भावना देह से इस कुंडल की खोज करने में श्रीनिवासजी को बाह्य दृष्टि से एक सप्ताह का समय लग गया। साधक देह निःस्पंद आसन पर विराजमान था। रामचंद्र कविराज आए, तो वे भी सिद्ध देह से श्रीनिवास की संगिनी के रूप में उनके साथ हो लिए और रामचंद्र को कमलपत्र के नीचे राधाजी का कुंडल दिखलाई पड़ा। उसी क्षण उन्होंने उसे श्रीनिवासजी को उस भावना देह के हाथ में दे दिया। सखी मंजरियों में आनंद की तरंगें लहराने लगीं। श्रीराधारानी ने प्रसन्न होकर अपना चबाया हुआ पान पुरस्कार रूप में दिया। रामचंद्र और श्रीनिवास दोनों सोकर उठनेवालों की तरह साधक देह में लौट आए। देखा गया कि सचमुच श्रीराधाजी का दिया हुआ पान पुरस्कार उनके मुख में था।

भगवान् स्वतः तृप्त होते हुए भी चिर अतृप्त हैं, निष्काम होते हुए भी विलासेच्छु हैं और अद्वितीय होते हुए भी भक्त के प्रेमपराधीन हैं, रस-स्वरूप होते हुए भी रस के पिपासु हैं। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होते हुए भी भगवान् राम प्रेम पिपासा से व्याकुल रहते हैं और नाना प्रकार की क्रीड़ाओं से अपने भक्तों में प्रीति का संपादन करते रहते हैं। राम के परमभक्त बाह्य कार्य में पुरुष हैं, परंतु आभ्यंतर कार्य में सभी देवी हैं। वास्तव में एक रस ही खंडित होकर सखासखी रूप में प्रस्फुटित हो गया है। आभ्यंतर कार्य की प्रेरिका हैं, जानकीजी। स्वामिनी जानकीजी हैं, इसलिये सभी उनकी इच्छा का अनुसरण करते हैं, स्वयं रामचंद्र भी उनकी इच्छा के वशवर्ती हैं। रामजानकी में सामरस्य है। स्वरूप एक ही हो, तो रस न हो। इनका स्वरूप ही शृंगार है। वहाँ भोक्ता-भोग्य नहीं; एक ही, लीला में दो हो जाता है—लीला में और लीला के रसास्वादन के लिये। यह अद्वैत में द्वैत है—एक आत्मा दो शरीर—कहने को दो, वास्तव में एक।

रमन्ते रसिका यस्मिन् दिव्यानेकगुणाश्रये।
स्वयं यद्रमते तेषु रामस्तेन प्रयुज्यते ॥

रसिक भक्त अनेक दिव्य गुणाश्रय रूप श्रीरामजी में रमण करते हैं और उन भक्तों में श्रीरामजी भी स्वयं रमते हैं। इसी हेतु राम कहे जाते हैं, जैसे, समुद्र जलमय और मधु मिष्टमय है, बाहर भीतर रसमय है, वैसे ही भगवान् राम रसमय रसस्वरूप हैं। स्वयं रस ही रस हैं; स्त्रियों को कौन कहे, अपने रूपौद्र के कारण पुरुषों को भी यह अभिलाषा होती है कि हम स्त्री होकर इनके साथ आलिंगनादि सुख को प्राप्त करें—पुंसामपि रामं पश्यतां स्त्री भूत्वाऽमनुभवे राममित्यभिलाषो भवति। रसिक भक्त अपने नाम के अंत में प्रिया, अली, लता, कला या सखी शब्द का व्यवहार अपनी भावना या दीक्षा के आधार पर करते हैं। इन पांचों उपनामों से इस संप्रदाय में विशद साहित्य सृष्ट हुआ है। तिलक की दृष्टि से भी यह विचारणीय है कि ये लोग श्री के नीचे बिंदी देते हैं और मस्तक पर युगलनाम तथा चंद्रिका अंकित करते हैं। गले में तुलसी की दुहरी कंठी तथा आभूषण धारण करते हैं। प्रायः रामरज में रँगे वस्त्र धारण करते हैं।

लीलाविहार में मिथिला भाव, अवध भाव तथा चित्रकूट भाव मुख्य हैं और प्रायः इसी के आधार पर स्वसुखी, तत्सुखी और निजसुखी उपासना का क्रम चलता है। जैसे श्रीकृष्ण-भक्तों ने भगवान् को मथुरा में पूर्ण द्वारका में पूर्णतर और वृंदावन में पूर्णतम माना है, उसी प्रकार यहां भी भगवान् राम को अवध में पूर्ण, मिथिला में पूर्णतर और चित्रकूट में पूर्णतम माना गया है। रसिकोपासना के अधिकांश उपासक चित्रकूट भाव से अष्टयाम भजन करते हैं, जहाँ परकीया रति की पराकाष्ठा है।

रामभक्ति की रसिकोपासना का श्रीगणेश कब हुआ, कहना कठिन है। आलवारों ने श्रीराम के प्रति प्रीति के गीत गाए हैं। स्वामी अग्रदासजी ने इस साधना को प्रशस्त रूप दिया और श्रीमधुराचार्य ने शास्त्र दिया। बिहार के कतिपय संतों ने इस साधनाधारा में विशेष योगदान दिया है, चिरान (छपरा) के श्रीजीवाराम युगलप्रियाजी ने एक विशद परंपरा चलाई। आपने रसिकाचार्य रामचरणदास जी (जानकीघाट, अयोध्या) से शृंगारी उपासना का संबंध ग्रहण किया था। इनकी दो परंपराएँ चलीं. एक अयोध्या में लक्ष्मणकिला पर इनके शिष्य युगलानन्यशरण द्वारा और दूसरी गद्दी चिरान (छपरा) में। इनका रसिकप्रकाश भक्तमाल इस साधनपरंपरा के मूल आकरग्रंथ के रूप में पूजा जाता है और नित्य पाठ में संमिलित है। अयोध्या में गोलाघाट, लक्ष्मणकिला और ऋणमोचनघाट इस साधना के मुख्य केंद्र हैं। आज अयोध्या में इसी परंपरा के संतों की संख्या अधिक है। इनका अभिज्ञान है—पीत ऊर्ध्वपुंड्र, मध्य में नीचे

श्रीबिंदु, ऊपर चंद्रिका, ऊर्ध्वपुंड्र के दोनों ओर युगलनाम की छाप और दोनों भृकुटियों के ऊपर मुद्रिका की छाप। श्रीहनुमत् निवास में श्रीमहात्मा रामकिशोर-शरण जी महाराज इस समय इस साधनपरंपरा के सर्वश्रेष्ठ संत माने जाते हैं।

यह स्वीकार करना चाहिए कि अभी कुछ वर्ष तक रसिकोपासना का साहित्य एक ओर तो अधिकांश विद्वानों द्वारा उपेक्षित और दूसरी ओर मठों मंदिरों में गुह्यातिगुह्य रूप में सुरक्षित रहा है। परंतु इस विषय पर दो शोधग्रंथों के प्रकाशन से इस साधना का बहुत कुछ साहित्य एवं इस साधना का वैशिष्ट्य सुधी समाज के समक्ष आया है। फिर भी, यह मानना पड़ता है कि इस साधना के हजारों ग्रंथ हस्तलिखित रूप में अयोध्या, काशी, चित्रकूट, रीवाँ, जयपुर और जनकपुर में पड़े हैं। निश्चय ही यदि कोई वीरव्रत अनुसंधित्सु उन ग्रंथों के नाम, उनके आकार प्रकार, उनमें आए हुए साधनविषय का विवरण, उनके लेखकों या लिपिकारों के नाम और परिचय, सन् संवत् के साथ प्रस्तुत कर सकें तो एक गुप्त या गोपनीय साधना के संबंध में विपुल सामग्री प्रकाश में आए और उनपर फिर आगे अनुसंधान का मार्ग उन्मुक्त हो।

— माधव

मध्वमत का दर्शन और साहित्य

[विश्वज्योति, वर्ष १५, अंक ३, मई १९६६ में प्रकाशित निबंध का सारांश]

मध्वमत, मध्वाचार्य और मध्वनवमी, इन तीन शब्दों से आज का प्रत्येक अद्वैतवादी सुपरिचित है। वेदांतदर्शन के अर्थनिर्णय के निमित्त हमारे अनेक आचार्यों ने जिन विभिन्न मार्गों को अपनाया, उनमें द्वैतमार्ग भी एक है। इस मत को माननेवाले भारत के कोने कोने में हैं, पर उत्तर भारत से अधिक दक्षिण भारत में हैं। विशेषतः कर्नाटक प्रांत में इसके माननेवालों की संख्या अत्यधिक है, और वहाँ इस मत से संबंधित साहित्य का आशातीत विकास हो चुका है। अतः आज इसकी आवश्यकता है कि मध्वमत दर्शन के साथ साथ उसके साहित्य का भी मूल्यांकन किया जाए।

मध्वाचार्य का जन्म विलंब नाम संवत्सर (११९९ ई०) की माघ सुदी नवमी को उडपी के पाजिका क्षेत्र में हुआ। आगे आपने अद्वैतमत के संन्यासी अच्युतपक्षाचार्य से दीक्षा ली और पूर्ण आनंदतीर्थ के नाम से प्रख्यात हुए। उपनिषद् भाष्य गीता भाष्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य जैसे महान् संस्कृत के ग्रंथों की रचना करनेवाले मध्वाचार्य को हनुमान भीम का अवतार कहा गया है।

प्रथमो हनुमन्नामा, द्वितीयो भीम एव च।
पूर्णप्रज्ञस्तृतीयस्तु, भगवत्कार्यसाधकाः॥

मध्वाचार्य ने अपने मत की स्थापना उस समय की थी जब भारत में शक्ति पंथ का जोर था। उस समय के प्रचलित मायावाद, मिथ्यावाद का विरोध करते हुए, मध्वाचार्य ने जिन पाँच नित्य भेदों को बताया, वे इस प्रकार हैं-- १-ईश्वर का जीव से नित्य भेद, २-ईश्वर का जड़ पदार्थ से नित्य भेद, ३-जीव का जड़ पदार्थ से नित्य भेद, ४-एक जीव का दूसरे जीव से नित्य भेद और ५-एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से नित्य भेद।

मध्वाचार्य ने द्वैतवाद के नाम से जिस दर्शन को जनता के सामने रखा, उसको संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं :

ब्रह्म—ब्रह्म सच्चिदानंदरूपी, समस्त कल्याणगुणों से पूर्ण, दोषरहित, सर्वव्याप्त, सर्वप्रेरक और संसार का मूल कारण है। उसके समान या उससे उत्तम कोई भी नहीं है। उसके कल्याण को जीव अपनी अपनी शक्ति के अनुसार जान सकते हैं। वेदशास्त्र और पुराणादि उसकी महत्ता का उद्घोष करते हैं। उनके द्वारा ही हम उसे पा सकते हैं। इस प्रकार के कल्याण-गुणपूर्ण, दोषरहित, परब्रह्म श्री महाविष्णु ही हैं। वह सर्वोत्तम है, सर्वगम्य है।

जगत्—जगत् सत्य है। ऐसा कहना ठीक नहीं कि अविद्या के कारण यह सत्य लगता है। इस संसार के कारक प्रकृति और परमेश्वर ही है। प्रकृति परमेश्वराधीन है। अतः जगत् ब्रह्माधीन है।

जीव—जीव भी नित्य है। सभी जीव एक समान नहीं रहते। उनमें वैयक्तिक भेद है। ये उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन विभागों से विभाजित हैं। उत्तम जीव अंततः मुक्ति योग्य है। मध्यम जीव अंततः मुक्ति प्राप्त करते हैं। अधम जीव नरक के योग्य हैं। प्रत्येक जीव का अपना अपना व्यक्तित्व होता है।

मोक्ष—मोक्ष का अर्थ जीव का अपने व्यक्तित्व को तज कर ब्रह्म में मिल जाना नहीं है। मोक्ष का अर्थ भगवान् के अनुग्रह से, बंधनों से छुटकारा पाकर जीव का अपने निज रूप को पाना है। इस मुक्तावस्था में जीव केवल दुःखरहित ही नहीं रहता, सुखानुभूति को भी पाता है। इस सुखानंद की मात्रा वैयक्तिक योग्यता के अनुसार होती है। भक्ति ही एक ऐसा उत्तम साधन है, जिसके द्वारा जीव को इस प्रकार की निजमुक्ति प्राप्त होती है। केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं मिलती।

मध्वाचार्य के बाद उनके शिष्यों के दो वर्ग बन गए। एक का नाम व्यासकूट पड़ा और दूसरे का दासकूट। व्यासकूट के महापुरुष वेदव्यास जी क

शिष्य और महान् पंडित थे। उन्होंने मध्वमत-दर्शन-संबंधी जितने भी ग्रंथों की रचना की वे सब संस्कृत भाषा में हैं। दासकूट में जितने भी दास हुए वे प्रधानतः कवि थे और उन्होंने द्वैतमत के आश्रय में जिस साहित्य की रचना की, उसे 'दास साहित्य' कहा जाता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर मध्वमत के साहित्य के विकास के चार सोपान हैं—

प्रथम—मध्वाचार्य के समय, नरहरितीर्थ के नेतृत्व में उनके शिष्यों द्वारा रचा हुआ साहित्य। उस समय के आचार्यों में जयतीर्थ, व्यासतीर्थ, वेदेशतीर्थ इत्यादि प्रमुख हैं।

द्वितीय—विजयनगर के राजा कृष्णदेवराय के समय, गुरु व्यासराय की देखरेख में पुरंदरदास, कनकदास इत्यादि संत कवियों द्वारा रचित साहित्य।

तृतीय—विजयदास, गोपालदास आदि दासवृंदों द्वारा रचा गया साहित्य।

चतुर्थ—प्राणेश, गुरु प्राणेश आदि दास कवियों से लेकर आजतक के दास कवियों का मुद्रित और अमुद्रित साहित्य।

मध्वमत में लगभग दो सौ संत कवि हुए हैं, जिनमें सबसे श्रेष्ठ दास श्री पुरंदरदास हैं। श्री पुरंदरदास को 'कन्नड के सूरदास' कहा जाता है। इसी परंपरा में कन्नड के कबीर कनकदास का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त विजयदास, जगन्नाथदास, गोपालदास आदि अनेक ऐसे संत कवि भी हैं जिन्होंने द्वैतमत के दृष्टिकोण को विस्तृत किया और भारतीय भक्ति साहित्य के भांडार को संपन्न किया। दास साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ—

(क) मध्वमत के दास साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता संगीत है। संगीत के साथ उसका सुंदर सामंजस्य है। दास कवियों की समस्त कृतियों में संगीत की ही प्रधानता है। मध्वाचार्य की उक्ति 'हरिगीतिरियम् परमादरतः' के अनुसार दास कवियों ने संगीत को अपने साहित्य का एक अभिन्न अंग बनाया।

(ख) दास साहित्य की दूसरी विशेषता उसमें प्रांतीय भाषा का प्रयोग है। पंद्रहवीं शताब्दी तक यह उलझन बनी रही कि धार्मिक साहित्य की रचना प्रांतीय भाषा (कन्नड) में की जाय या नहीं। विजयनगर साम्राज्य के समय दास कवियों ने प्रांतीय भाषा में साहित्य की रचना की और यह सिद्ध किया कि प्रांतीय भाषा के माध्यम से ही भावों को जनता के मन की गहराई तक पहुँचाया जा सकता है।

(ख) दास साहित्य की तीसरी विशेषता उसकी सामाजिकता है। दास कवियों ने दार्शनिक शुष्कता पर अधिक ध्यान न देकर, तत्कालीन समाज के सुधार की ओर अधिक ध्यान दिया। इन लोगों ने अपने शांति उपदेशों से जनता के जीवन रस को परिशुद्ध किया। जनता की चाल चलन, शील और तत्वविवेचना शक्तियों को उदात्त बनाया। अपने उपदेशों से दास कवियों ने जीवन से भागने का नहीं, जीवन में रहने सहने का उपाय बताया। संत और सज्जन की संगति से जिओ और जीने दो, का उपदेश दिया।

— अनंतनाथ पंकज

निर्देश

शोधपत्रिका, अंक ३, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

हिंदी में कोश निर्माण की कुछ समस्याएँ—कालीचरण बहल।

तुलसी का काव्यसिद्धांत—डा० विनय मोहन शर्मा।

मृगावती का संभाव्य स्रोत—डा० शिवगोपाल मिश्र।

भाषा, वर्ष ५ अंक ३, मार्च १९६६, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, भारत सरकार, दिल्ली।

हिंदी की व्युत्पत्ति—हेमचंद्र जोशी।

हिंदी और तमिल के कारकीय परसर्ग और विभक्तियाँ—अंबाप्रसाद 'सुमन'।

ए । ओ । ळ । र : द्रविड़ भाषा के संदर्भ में—ना० नागप्पा।

पंजाबी भाषा और उपभाषाओं का संबंध—ओमप्रकाश कहोल।

*

समीक्षा

हिंदी सर्वदर्शनसंग्रह

हिंदी अनुवाद तथा भाषा के कर्ता—प्रो० उमाशंकर, ऋषि; प्रकाशक—चौखंभा विद्याभवन वाराणसी—१; पृ० सं० ६+६७०; मूल्य २५)।

माधवाचार्य का 'सर्वदर्शन संग्रह' अत्यंत प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण दर्शन-ग्रंथ है। भारतीय दर्शनों की चिंताधारा का आकलन करते हुए संकलित रूप साररूप से इस ग्रंथ में उपस्थित किया गया है। महापंडित माधवाचार्य के इस ग्रंथ में अपने समय की उपलब्ध दार्शनिक विचारधाराओं का संक्षिप्त पर वैदुष्य-पूर्ण रूप में आकलन और संकलन दिया गया है। ग्रंथकार की शास्त्रदर्शी मेधा और तत्त्वदर्शी प्रज्ञा का यह कृति परिचय देती है। म० म० वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर से पहले ऐसे महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रंथ पर प्रसिद्ध व्याख्या या टीका का अभाव था।

यह एक बड़ी विचित्र बात है कि अनेक शताब्दियों तक इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ पर कोई टीका नहीं लिखी गई। यदि लिखी भी गई तो उसका प्रचार न हो पाया। महामहोपाध्याय वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर ने पांडित्यपूर्ण टीका और इसका संपादन किया। माधवाचार्य चौदहवीं शताब्दी के महान् पंडित और विविध दर्शनों में पारंगत एवं मेधावी विचक्षण थे। उन्हें सायणाचार्य के बड़े भाई भी कहा गया है। अतः आचार्य माधव स्वतः भी विद्वान् थे और पंडितों के कुल में उत्पन्न भी।

उनके इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आचार्य माधव ने प्राचीन भारत की दार्शनिक विचारधाराओं (सोलह) का संक्षेप में पर गंभीरता के साथ सिद्धांतवर्णन किया है। इन दर्शनों में श्रौत (श्रुतिमूलक वेदप्रामाण्यवादी) दर्शन भी है और चिंतनसंभूत, तर्कपोषित अवैदिक दर्शन भी है। अवैदिक दर्शनों के अंतर्गत—चार्वाक, बौद्ध, आर्हत (जैन) आदि दर्शन हैं तथा वैदिक के अंतर्गत न्याय, वैशेषिक, पाणिनिदर्शन, योग, वेदांत आदि। आचार्य माधव स्वयं शंकर के अद्वैतवाद में आस्थावान थे। परंतु अन्य दर्शनों का पक्ष उपस्थित करने में उन्होंने बहुत तटस्थता का प्रयत्न किया है। उन्होंने ऐतिहासिक क्रम को छोड़ कर स्वप्रतिपाद्य दृष्टि के अनुकूल दर्शनों का क्रम रखा है। उत्तरोत्तर निरूप्य दर्शन-सिद्धांतों में पूर्व-पूर्व मत का प्रत्याख्यान किया गया है। चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शन से ग्रंथ का आरंभ है और अंत में सांख्य योग और सबसे बाद—

सोलहवें प्रकरण में शांकर वेदांत की प्रतिष्ठा हुई है। इसके आरंभ में ही सांख्य और योग के द्वारा प्रतिपादित प्रमाणवाद का खंडन है। वस्तुतः इसी मुख्य प्रतिपाद्य के निमित्त अन्य विवेचित दर्शनों का निरूपण किया गया है। इस ग्रंथ के कुछ संस्करणों में **शांकरसिद्धांत** नहीं है। अतः यह कृति अद्वैत मत की प्रतिष्ठा का 'प्रबंध ग्रंथ' (थीसिस) कहा जा सकता है। वेद-वेदांत और नाना दर्शनों के मर्मज्ञ, आचार्य माधव ने दार्शनिक संप्रदायों के व्यापक परिपेक्ष्य में **शांकर मत** मत को निरूपित करते हुए अद्वैतवाद की उत्कृष्टता प्रमाणित की है।

'हिंदी सर्वदर्शनसंग्रह' के प्रस्तुतकर्ता प्रो० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' ने बड़े श्रम अध्यवसाय और वैदुष्य के साथ प्रस्तुत ग्रंथ का संपादन एवं हिंदी अनुवाद किया है। विषय की स्पष्टता के लिए अनुवादक ने आवश्यकतानुसार स्पष्टीकरण और विशेष शीर्षकों के अंतर्गत तथा कहीं कहीं पाद टिप्पणियों की सहायता से मूल को स्पष्ट किया है। अनूदित हिदी रूपांतर में भी विषय की स्पष्टता के लिये कोष्ठ के अंतर्गत व्याख्यात्मक विवेचन किया गया है। अंगरेजी में प्रस्तावना और हिंदी में पूर्वपीठिका लिखकर हिंदी संस्करण के प्रस्तुत कर्ता ने ग्रंथ को मूलतः समझाने का दिशा निर्देश किया है। ग्रंथ के अंत में पाँच परिशिष्टों के अंतर्गत उन्होंने प्रमुख दर्शन ग्रंथों की सूची, प्रमुख दार्शनिकों के नाम और उनकी कृतियाँ, मूल ग्रंथ में निर्दिष्ट ग्रंथ और ग्रंथकार तथा मूल ग्रंथों की उद्धरण सूची और शब्दानुक्रमणी देकर हिदी संस्करण को अधिक उपयोगी बना दिया है। आरंभ में काशी हिंदू विश्वविद्यालय के संस्कृत - विभागाध्यक्ष का अंगरेजी-प्राक्कथन और जगद्गुरु शंकराचार्य, श्री १०८ स्वामी महेश्वरानंद सरस्वती (कवि तार्किक चक्रवर्ती पंडित महादेव शास्त्री) का अनुवादक को आशीर्वचन भी ग्रंथ में प्रकाशित है।

श्री 'ऋषि' द्वारा संस्कृत-मूल-विशिष्ट यह हिंदी संस्करण केवल छात्रोपयोगी ही नहीं है अपितु संस्कृत में अनिपुण, हिंदी जाननेवाले (भारतीय दर्शन के) अध्येताओं के लिये भी बड़ा सहायक सिद्ध होगा। इसके लिये हिंदी संस्करणकर्त्ता और उसके प्रकाशक चौखंबा विद्याभवन के अधिकारी साधुवाद के अधिकारी हैं। हिंदी के दर्शनप्रेमी पाठक इस कृति का अवश्य ही स्वागत करेंगे।

— करुणापति त्रिपाठी

सांख्ययोग शास्त्र का जीर्णोद्धार

लेखक—हरिशंकर जोशी, प्रकाशक - चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी;मू० १५)।

आलोच्य ग्रंथ के लेखक श्री हरिशंकर जोशी की यह कृति अपना विशेष महत्त्व रखती है। इसके संबंध में लेखक ने स्वयं कहा है—'इस ग्रंथ के निर्माण में मेरा प्रायः समस्त जीवन लग गया है।' लेखक ने अपनी उस विचारशृंखला को लेकर—जिसका प्रतिपादन प्रस्तुत ग्रंथ में किया गया है—अनेक ग्रंथों का प्रणयन

किया है। 'वैदिक विश्वदर्शन', 'वैदिक योगसूत्र', 'वैदिक ब्रह्मसूत्र' तथा विस्तृत भूमिका समन्वित 'उपनिषदों का भाष्य'—वस्तुतः एक ही व्यापक दृष्टिपरिवेश के ग्रंथ हैं। इनमें 'वैदिक विश्वदर्शन' और उसके विभिन्न अंगों का सप्रमाण प्रतिपादन किया गया जान पड़ता है। प्रस्तुत ग्रंथ के आधार पर इतना ही साररूप में कह सकते हैं—'सांख्ययोगदर्शन भारत का प्राचीनतम दर्शन है। वैदिक संहिता-काल से ही इस मूलदर्शन की अभिव्यक्ति होती चली आई है। यह दर्शन वस्तुतः 'वैदिक विश्वदर्शन' का ही सारात्मक और संक्षिप्त स्वरूप है। इसका संकेत वैदिक युग के आरंभ से मिलता है। 'कठ' और 'श्वेताश्वर' उपनिषदों तक पहुँचकर सांख्ययोगदर्शन के रूप में उस वैदिक दर्शन का स्पष्टतर आकार बना। 'महता कालेन' जब 'वैदिक विश्वदर्शन' का लोप उपस्थित हुआ—उस दर्शन के लिये जब अंधकार युग उपस्थित हुआ—तब उसके साररूप का प्रतिपादन आवश्यक समझा गया। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता एवं पुराणों में इसी दर्शन का अजस्र प्रवाह बहता दिखाई देता है। इसी कारण 'गीता' में इस दर्शन के अत्यंत प्रौढ़ और सारभूत सिद्धांतों का उद्‌घोष है। 'सांख्य' और 'योग'—दो दर्शनों के रूप में परकालवर्ती दर्शनों का विभाजन वस्तुतः उत्तरकालीन (लेखक के मत से) एक प्रकार की भ्रांति का परिणाम है। जो 'बालाः' हैं वे ही 'सांख्य और योग' को पृथक् मानते हैं, परंतु सदसद्विवेचना में निपुण प्रज्ञावाले पंडित उन्हें अलग नहीं—एक समझते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि लेखक की सांख्यदर्शन की प्राचीनतावाली मान्यता में पर्याप्त पुष्टता है। 'सांख्यदर्शन' निश्चय ही भारत के प्राचीनतम दर्शनों में अद्वितीय ही नहीं है अपितु सर्वाधिक लोकप्रिय भी रहा है। प्राचीनतर पुराणों में निश्चय ही सांख्य का प्रभाव और सांख्यमत का उल्लेख सर्वाधिक देखा जा सकता है। इसी प्रकार सत्वादि त्रिगुणों की सांख्योद्भावित मान्यता ने भारत के जीवन में देशकालव्यापी प्रभाव डाला है। समस्त विचारसरणियों में सात्विक, राजस और तामस प्रभावों प्रेरणाओं परिणामों की चर्चा मिलती हैं। अतः श्री जोशी की यह मान्यता पर्याप्त दृढ़ है। पर **'वैदिक विश्वदर्शन'** के रूप में 'सांख्य' के जिस पूर्वस्रोत का वर्णन हुआ होगा और जिसके लुप्त हो जाने से 'अंधकार युग' अवतीर्ण हुआ—इत्यादि लेखक की अनेक ऐसी मान्यताएँ हैं जो झट से स्वीकार नहीं की जा सकतीं। उनपर गंभीर विचार अपेक्षित है। परंतु 'सांख्ययोग के जीर्णोद्धार' ग्रंथ के प्रणेता ने अपना पक्ष अत्यंत साधार और तर्कपुष्ट रूप में उपस्थित किया है। स्थान-स्थान पर जिन व्याख्याओं को असंदिग्ध रूप में स्वीकार करके ग्रंथकार ने स्वसिद्धांत की स्थापना की है—उसे आंख मूँदकर माना नहीं जा सकता। फिर भी लेखक ने जो कुछ कहा है—उसका तर्कपुष्ट समर्थन किया है, उसके लिये

साधक प्रमाण उपस्थित किए हैं और उसकी बुद्धिसंगत व्याख्या करने की भी सफल चेष्टा हुई है।

प्रस्तुत ग्रंथ वस्तुतः ३ खंडों में विभाजित है—(१) इतिहास, (२) संभ्रांत सांख्ययोग और (३) सृष्टिप्रवाह की एक झांकी (प्राचीन सांख्य के अनुसार)। प्रथम अंश में 'सांख्ययोगदर्शन' का आदिमत्व, प्रक्तमत्व, उपनिषद्, गीता, महाभारत और पुराणादि में इसकी महिमा और गरिमा आदि का सप्रमाण और अत्यंत विशद विवेचन है। इसी में सांख्य के 'कपिल', हिरण्यगर्भ','ब्रह्म' आदि सैकड़ों आचार्यों के विषय में, उनके तत्वपरक, प्रतीकपरक, आचार्यपरक आदि चार धाराओं (उपधाराओं) में विभाजित आचार्यों का ऐतिहासिक दृष्टि से परिचय दिया गया है। साथ ही योग के प्रवर्तकों और उसकी मुख्य धाराओं का भी संक्षिप्त उल्लेख है। इसके साथ साथ सांख्य और योग के पुरातनतम ग्रंथों का विवरण भी दिया गया है। वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों (विशेषतः श्वेताश्वतर) में सांख्य संबद्ध विवरणों का विचार उपस्थित किया गया है। भगवद्गीता में सांख्य और योग से संबद्ध दृष्टि का स्वरूप बताने के पश्चात् गीता के बुद्धियोग का दर्शन भी बड़े ही प्रौढ़ ढंग से उल्लिखित है।

इस भाग के ग्यारहवें अध्याय में बुद्धियोग को गीता का परमप्रिय विषय या प्राणयोग बताया गया है। इस मत से 'योग' शब्द का पर्याय 'यज्ञ' है जिसका निर्देश 'पुरुषसूक्त' में 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' कहकर दिया गया है। यज्ञ के पाँच भेद—'द्रव्ययज्ञ', 'तपोयज्ञ', 'योगयज्ञ' 'स्वाध्याययज्ञ' और 'ज्ञानयज्ञ' हैं। गीता में इनकी ऐहिक और पारलौकिक व्याख्या है। 'योगयज्ञ' ही 'कर्मयोग' है जिसकी भूमिका 'ज्ञानयोग' है। वही 'ध्यानयोग' भी है; और 'ज्ञानयोग' ही 'सांख्ययोग' है। वही ज्ञान की चरमसीमा है। दूसरी ओर 'अनन्ययोग', 'भक्ति-योग' हैं। समस्त यज्ञों की आधारशिला 'बुद्धियोग' है। 'योगयज्ञ' या ध्यानयज्ञ भी वही 'बुद्धि' या 'स्थितिप्रज्ञ' बनने पर साध्य हो पाती है। योग द्वारा परमगति का अंतिम साधन 'अहोरात्रियोग' है। इसका चरम साध्य 'मोक्ष' है।

'योगमार्ग' में इसे प्राचीनतम कह सकते हैं। 'पुरुषसूक्त' में इसका निर्देश मिलता है। वहाँ 'प्रकृति' को 'श्री', 'प्रधान' को 'लक्ष्मी' और अहोरात्रि को 'सपत्नी' के संकेत से निर्दिष्ट किया गया है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि ग्रंथकार के मत से 'वैदिक-विश्व-दर्शन' का संक्षिप्तसार औपनिषदिक दर्शन है और 'गीता' उस दर्शन का नवनीत है। वहीं मूल और विशुद्ध 'सांख्ययोग' का संक्षिप्त स्वरूप मिलता है। प्रचलित 'सांख्योग' वस्तुतः—ग्रंथकार की कल्पना में—उक्त 'सांख्य-योग' का अधूरा, विकलांग और नष्ट स्वरूप मात्र है। अतः गीता के 'बुद्धियोग' को प्राचीन 'सांख्ययोग' कहा जा सकता है।

वैदिक-आर्य अपने जिस 'विश्वदर्शन' और उसके अंतिम भाग को 'कृतांत' या 'सांख्य' नाम से प्रतिष्ठित कर चुके थे, उसी को 'वेद' या 'पवित्रतम ज्ञान' कहा गया है। ग्रंथकार ने इसको 'संभ्रांत सांख्य' का नाम दिया है, और उनके मत से इस 'सागरकल्प' 'विश्वदर्शन' की उर्मियाँ लहराती हुई कभी बरमा, कभी सिलोन, कभी चीन और कभी जापान तक पहुँचीं। इरान और यूनान भी उनसे अछूता नहीं रहा। भारत में उपनिषदों, स्मृतियों, निरुक्त और पुराण-महाभारत आदि में एक ओर तथा जैन और बौद्ध धर्मग्रंथों में दूसरी ओर उक्त सांख्य की बिखरी हुई सामग्रियाँ श्रद्धापूर्वक गृहीत होती रहीं। अनेक रूपों में विकसित और प्रस्फुटित शाखाओं में प्रधान रूप से पाँच ही उपलब्ध हैं—(१) अहोरात्र शाखा, (२) कालशाखा, (३) अत्रिशाखा, (४) प्रधानस्तंभ और (५) योगशाखा (विभिन्न)। इनमें भी (१) की चार शाखाएँ, (२) की सात (३) की पाँच (४) कापिलीय की बीस और (५) की सोलह कुल शाखाएँ उपलब्ध हैं।

लेखक ने ग्रंथ के अपने प्रथम दस अध्यायों के आधार पर सांख्ययोग में कम से कम ६ उल्लेखनीय सोपानों का निर्धारण किया है। इनमें 'सप्तम सोपान' पर 'पतंजलि' का 'सांख्य-योग' और नवम-सोपान पर 'ईश्वरकृष्ण, वाचस्पति, भोजराज और 'विज्ञानभिक्षु' का सांख्य स्थित माना है। अहोरात्रसिद्धांतीय उपशाखाओं में (१) 'यास्क', (२) भगवद्गीता (३) पुरुषसूक्त (४) मनुस्मृति' और (५) 'वायुपुराण' के आधार पर शाखाओं का विवेचन बताया गया है। १२वें से १५वें अध्यायों में क्रमशः 'संभ्रांत सांख्ययोग' की द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम शाखाओं का—अपनी अपनी उपशाखाओं के पर—संक्षिप्त तर्क-पूर्ण, परिचय देने का प्रयास हुआ है। सत्रहवें अध्याय में भारतीय लौकिक दर्शनों और शास्त्रों पर सांख्ययोग का प्रभाव दिखाते हुए चार्वाक, न्याय, वैशेषिक, व्याकरण, चार शैव मत (१) नकुलीश - पाशुपत, (२) वीरशैव, (३) प्रत्यभिज्ञा और (४) विशेश्वर, बौद्धमत (सौत्रांत्रिक, वैभाषिक, योगाचार, और माध्यमिक), 'जैनमत', 'शांकर वेदांत' 'रामानुज मत' और 'माध्व-मत' पर 'सांख्य-सिद्धांत' की उत्तमर्णता दिखाई गई है।

इस ग्रंथ का अट्ठारहवाँ अध्याय एक विचार से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसका शीर्षक है 'सांख्य के सृष्टिप्रवाह की एक झाँकी'। इसमें ग्रंथकारीय सांख्य दृष्टि से 'सृष्टिप्रवाह' और 'सृष्टिविकास' को विशाल परिवेश में और तर्क-पूर्ण परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत समझने-समझाने की चेष्टा की गई है। यहाँ 'सांख्य' की दृष्टि से तत्वों के वास्तविक स्वरूप और आधुनिक वैज्ञानिक विश्लेषण-प्रक्रिया के अनुसार उसकी तुलनात्मक संगति दिखाई गई है।

लेखक के मत से 'सांख्य' की सृष्टिविषयक व्याख्यादृष्टि मूलतः विज्ञानमय या वैज्ञानिक है। लेखक ने वर्तमान युग की वैज्ञानिक उपलब्धियों का उल्लेख करते हुए अपनी दृष्टि से उनका यथार्थ मूल्यांकन भी किया है। स्वप्रतिपादित सांख्य-दृष्टि को स्पष्टतर और बोध्यतर बनाने के लिये ऐसे अनेक आकार-चित्र दिए गए हैं जो सृष्टि की उत्तरोत्तर विकास स्थितियों के पूर्ण परिचायन में सहायक हैं। संक्षिप्त पर गंभीर रूप से निरूपित इस अध्याय द्वारा ग्रंथकार ने स्वप्रतिपादित 'सांख्यदृष्टि' का ऐसा निरूपण किया है जिससे यह आभास मिलता है कि प्राचीन 'सांख्यदृष्टि' में सृष्टि क्या है? उसका विकास कैसे होता है? उसके तत्व क्या है? तत्वों के पारिभाषिक नाम और उनकी बोध्यार्थ-सीमा क्या है?—इन सब विषयों को बताने की चेष्टा हुई है। प्राचीन सांख्ययोगानुसार मानवसृष्टि का विकासक्रम भी दिया गया है। अंत में इसी अध्याय के अंतिम उपशीर्षक—'ज्ञान का ज्ञान'—के अंतर्गत यह बताया गया है कि अनुभूयमान ज्ञानों का प्रतीयमान रूप क्या है? और किन उपकरणों एवं उनकी क्रियाओं द्वारा नाना स्थितियों में परिणत ज्ञानामृत का आस्वादन होता है? इसी प्रकरण में स्मृति के स्वरूप, सीमा, विस्तार, व्यापार और शक्ति के विश्लेषण की चेष्टा की गई है। इसके द्वारा ग्रंथकार के प्रतिपादित प्राचीन-सांख्ययोग-संबंधी अनेक आकलनों का परिचय मिलता है।

श्री हरिशंकर जोशी की यह रचना यद्यपि अनेक विद्वानों को कुछ विचित्र या चौंकानेवाली लग सकती है, और यह भी संभव क्या स्वाभाविक भी है कि अनेक 'सांख्यशास्त्र' के मर्मज्ञ मनीषी ग्रंथकार के प्रतिपादन से असहमत हों। फिर भी अपने जीवन भर के अध्ययन, मनन, चिंतन और सूक्ष्म तत्व विवेचन की दृष्टि से लेखक ने जो सामग्री उपस्थित की है वह निश्चय ही साधार और अध्ययनपोषित है। शास्त्र और कल्पना के संतुलित सहयोग से आकलित और वैदिक वाङ्मय तथा भारतीय दर्शनों-पुराणों, स्मृतियों के वचनों से समर्थित एवं गीता के प्रतिपाद्य तत्वों से साकारित और प्रमाणीकृत स्थापना महत्व पूर्ण अर्थ रखती है। आधुनिक विज्ञान की खोजों से प्रतिपादित तत्वमीमांसा का भी तुलनात्मक समीक्षण इस कृति की अपनी मौलिक विशेषता है। आशा है, विषय में अभिरुचि रखनेवाले सुधी जन ग्रंथ के पक्ष या विपक्ष में अपनी सप्रमाण प्रतिक्रिया उपस्थित करेंगे।

--वररुचि

बुंदेलखंड की प्राचीनता

लेखक—डा० भागीरथप्रसाद त्रिपाठी, 'वागीश शास्त्री'; प्रकाशक—मंत्री विद्वद् गोष्ठी, डी० ५।११०, मीरघाट, वाराणसी; डिमाई, पृष्ठ संख्या १२८; मूल्य ७)५०।

डा० भागीरथप्रसाद त्रिपाठी का यह ग्रंथ लघु होने पर भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अनेक वर्षों तक मनन, चिंतन, ऐतिहासिक परिभ्रमण तथा

शोध करने के बाद ग्रंथकार ने अपना मत उपस्थित किया है। उन्होंने एक ओर तो यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि बुंदेलखंड अत्यंत प्राचीन स्थान है और दूसरी ओर यह कि पुलिंद देश ही उसका पुरातन आधार है। विवेचना में ऐतिहासिक और भाषावैज्ञानिक—दोनों स्रोतों से सहायता ली गई है। इस प्रकार व्यापक और गंभीर अनुशीलन के आधारपर नई दृष्टि से बुंदेलखंड के प्राचीन भूभाग को निर्धारित करने का लेखक ने प्रयास किया है। उन्होंने इस विषय पर अनाग्रह भाव से और तटस्थ बुद्धि से—अनुशीलनलब्ध सामग्री के आधार पर—स्वपक्ष का उपस्थापन किया है। शास्त्री के प्रतिपादन में—अपने मत के प्रति प्रमाणपुष्ट आस्था है पर साथ ही साथ—निष्पक्षता-बोध और पूर्वाग्रह का अभाव भी है।

सब मिलाकर ग्रंथ में विवेचित और मतस्थापनार्थ संकलित सामग्री का पर्याप्त महत्व है। ग्रंथनिर्माण से संबद्ध विषय की पूर्वोपलब्ध और विवेचित सामग्री एवं विषय के प्रस्तुतीकरण में निश्चय ही तर्कसंगत नूतनता है। अतः आशा है कि प्रत्नभारत के इतिहासज्ञ—इस ग्रंथ का अध्ययन करते हुए—इस पर अपने विचार व्यक्त करेंगे।

—करुणापति त्रिपाठी

पाणिनिपरिचय

लेखक—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल; प्रकाशक—मध्यप्रदेश शासन-साहित्य-परिषद्, भोपाल; आकार डिमाई; पृ० १२४; मूल्य ४)५०।

डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल इस प्रकार के शोधक हैं जो संस्कृत के ग्रंथों से ऐसी उपयोगी सामग्री ढूँढ़ निकालना चाहते हैं, जिसकी ओर ग्रंथगत प्रतिपाद्य विषय के अध्येता की दृष्टि प्रायः नहीं जाती रही है। इसका कारण है उनकी इतिहास-जिज्ञासु-वृत्ति। इसके प्रमाण हैं उनके दो प्रसिद्ध ग्रंथ, 'हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन' और 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष'। पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्र का श्रेष्ठ ग्रंथ है। लगभग ढाई सहस्र वर्षों से व्याकरण के प्रमुख ग्रंथ के रूप में इसका अध्ययन अध्यापन चलता चला आ रहा है। इसपर वार्तिक बने, भाष्य हुआ, टीकाएँ रची गईं, विभिन्न प्रकार से इसका मनन और मंथन हुआ। किंतु संस्कृत विद्वानों की दृष्टि उधर से हटकर इससे ऐतिहासिक सामग्री एकत्र करने में प्रवृत्त नहीं हुई। पढ़ते पढ़ाते समय कतिपय बातों की चर्चा हो जाया करती थी जिसे हम 'पंथानं गच्छँस्तृणं स्पृशति' ही कह सकते है। इधर आकर पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि अवश्य इतिहाससंबद्ध सामग्री की ओर गई और उन्होंने भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के निर्माण में उनका विनियोग भी

किया। साहित्यकारों ने साहित्योपयोगी तत्वों को अपनाया। डा० अग्रवाल ने अष्टाध्यायी को प्रमुख रूप से तत्कालीन इतिहास के अध्ययन का विषय बनाया, जिसकी परिणति 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में देखने को मिलती है। प्रस्तुत पुस्तक में पाणिनि के परिचय के साथ साथ प्राचीन भारत की विद्या, संस्कृति समाज और राष्ट्र का संक्षिप्त परिचय भी आ गया है। इसे पाणिनिकालीन भारतवर्ष का संक्षिप्त संस्करण समझना चाहिए।

इस पुस्तक के लेखन में अपना उद्देश्य प्रकट करते हुए लेखक स्वयं कहता है—'प्रस्तुत ग्रंथ में हमारा उदेश्य पाणिनि व्याकरण में प्रयुक्त अनेकानेक शब्दों की ऐतिहासिक छानबीन करना है। इससे दो प्रयोजन सिद्ध होंगे। एक तो जिन शब्दों को अष्टाध्यायी के पढ़ने - पढ़ानेवाले पढ़ते रहते हैं, उसका ठीक-ठीक अर्थ उन्हें ज्ञात हो सके। शब्द का अर्थ न जानकर जो व्याकरण पढ़ता है, वह सुग्गे की तरह केवल शब्द रटता है। किंतु व्याकरण के सीमित क्षेत्र से बाहर भी ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें साहित्य और संस्कृति में व्यापक रुचि है। उन्हें इस अध्ययन के द्वारा प्राचीन भारतीय जीवन से संबंधित उन अनेक संस्थाओं का परिचय प्राप्त होगा, जिनका सौभाग्य से अष्टाध्यायी में उल्लेख है। अष्टाध्यायी मुख्यतः व्याकरण का ग्रंथ था, पर अनुषंगिक रीति से उसे भारतीय संस्कृति का भी कोश कहा जा सकता है। × × × ऐतिहासिक सामग्री के कारण पाणिनि के शास्त्र में एक सरसता है, जिसकी ओर ध्यान दिलाना हमारा कर्तव्य है।'

अष्टाध्यायी में आए शब्दों के अर्थ बहुत कुछ उसके सूत्र ही बता देते हैं और कतिपय के अर्थों पर महाभाष्यकार ने विद्वत्तापूर्ण विचार किया है। इस पुस्तक के न होने से अष्टाध्यायी में आगत शब्दों के अर्थ नहीं खुलते, ऐसी बात नहीं है। शब्दार्थों पर संस्कृत कोशकारों ने भी गंभीर विचार किया है। किंतु इस पुस्तक का उद्देश्य शब्दार्थविचार ही न होकर तत्कालीन सामाजिक जीवन, वर्ण और जाति, रहन-सहन, जीवनयापन का प्रकार, भौगोलिक स्थिति, संस्कृति और शिक्षा आदि का अध्ययन करना है।

पाणिनि के व्याकरणनिर्माण के प्रसंग में लेखक ने यह भी बताया है कि इस व्याकरण से पहले और भी अनेक व्याकरण बन चुके थे। ऐंद्र, चांद्र, काशकृत्स्न, कौमार, शाकटायन आदि के नाम लिए जाते हैं। किंतु पाणिनीय व्याकरण के तीव्र तेज से शेष सभी विलुप्त हो गए। उनमें कतिपय आचार्यों के कतिपय मतों को देते हुए पाणिनि ने उनके नाम लिए हैं। जैसे, 'त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य' (८।४।५०); 'सर्वत्र शाकल्यस्य' (८।४।५१), 'वा सुप्यापिशलेः' (६।१।९२), 'व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य' (८।३।१८), 'ओतो गार्ग्यस्य' (८।३।२०)

इत्यादि। सभी शास्त्रों में यह स्थिति मिलती है। पाणिनि के जीवनपरिचय में लेखक ने चीनी यात्री र्यूआन् चुआङ् के लेख से भी सहायता ली है।

आगे शब्दरूपों की सिद्धि के प्रसंग में आए मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी, पर्वत, धान्य आदि के नामों से तत्कालीन भारतवर्ष की स्थिति, प्रवृत्ति, संस्कृति और सभ्यता का परिचय बड़ी खोजबीन के साथ दिया गया है। इसमें संदेह नहीं कि इस पुस्तक से हिंदीवाले पाणिनिशास्त्र के उद्देश्य के साथ साथ तत्कालीन भारत से भी बहुत अंशों में परिचित हो जाएँगे।

—लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

कामायनीचिंतन

लेखक—डा० विमलकुमार जैन; प्रकाशक—भारती-साहित्य-मंदिर, फव्वारा, दिल्ली; पृष्ठ ३२८, मूल्य १२)।

स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद' की कामायनी छायावादी परंपरा की प्रौढ़ एवं प्रतिनिधि रचना होने कारण हिंदी-साहित्य-जगत् में सर्वाधिक चर्चा का विषय रही है और है भी। मनस्तत्व की विभिन्न भूमिकाओं को प्रमुखतया दृष्टि में रखकर और विषयवस्तु को गौणता प्रदान करके रचा गया इतना चित्रल प्रबंधकाव्य इधर देखने में आया भी नहीं। यही कारण है कि इसपर एक ओर जहाँ उपाधिकांत अनुसंधित्सु शोधप्रबंध प्रस्तुत करने में लगे हैं, वहीं दूसरी ओर साहित्य का मनीषिवर्ग इस पर शास्त्रीय समीक्षा के ग्रंथ लिखता जा रहा है। इसी क्रम में कामायनीचिंतन का भी अवतरण हुआ है। यह पुस्तक इक्कीस अध्यायों में विभक्त है : प्रसाद और उनके काव्य का क्रमिक विकास, कामायनी का कथानक, कामायनी की पृष्ठभूमि, कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि, कथा में रहस्यात्मक रूपक, कामायनी में भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, कामायनी का महाकाव्यत्व, कामायनी में चरित्रचित्रण, कामायनी में रस, कामायनी में प्रेम का स्वरूप, कामायनी का काव्यसौष्ठव, कामायनी में विविध वर्णन, कामायनी में प्रकृतिचित्रण, कामायनी की भाषा, कामायनी में अभिव्यक्ति सौंदर्य, कामयनी में छंदविधान, कामायनी में कतिपय दोष, कामायनी में भावानुवाद, कामायनी पर आधुनिक प्रभाव, कामायनी का संदेश और कामायनी का मूल्यांकन।

इस प्रकार लेखक ने भरसक काव्य के प्रायः प्रत्येक अंग का विवेचन करने का प्रयास किया है। भाषा और अभिव्यक्तिसौंदर्य को अलग अलग अध्यायों में रखने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि अभिव्यक्ति का संबंध पूर्णतया भाषा से ही

होता है। रस, प्रेम का स्वरूप और काव्यसौष्ठव को अलग अलग स्थान देकर और फिर प्रकृतिचित्रण को इनसे बहिष्कृत करके इसे उनसे नितांत असंपृक्त समझा गया है। इससे आलोचना में जिस कसावट और समाहृति की अपेक्षा की जाती है वह आ नहीं सकी है। विभिन्न अध्यायों में लेखक अपने विवेच्य विषय से दूर इतस्ततः भटकता दिखाई पड़ता है। बहुज्ञता-प्रदर्शन के आग्रह ने उसे समीक्षक नहीं रहने दिया है। काव्य के कतिपय विवेच्य पक्षों पर अपना स्वतंत्र चिंतन न देकर उसने कामायनी के पूर्वसमीक्षकों की मान्यताओं को ज्यों की त्यों उद्धृत करके शिरोधार्य कर लिया है। सत्समीक्षक की जाग्रत चेतना के अभाव में यह पुस्तक 'कामायनीचिंतन' न होकर 'कामायनीस्तवन' हो गई है। इसके लिये हम पुस्तकागत कतिपय स्थलों को देखना चाहेंगे।

महाकाव्यत्व

लेखक ने यह समर्थन करने का प्रयास किया है कि कामायनी आधुनिक महाकाव्य है। कुछ इधर उधर करने के बाद वे यह कहकर पृथक हुए —

'प्रसाद जी नवीन युग के व्यक्ति थे अतः प्राचीन शृंखलाओं में जकड़े रहना उन्हें रुचिकर नहीं था।'[1]

मनु में नायकोचित गुणों की छानबीन का निष्कर्ष देते हुए लेखक कहता है—'यह ठीक है कि मनु में नायक के अनुकूल गुण नहीं हैं। परंतु ज्ञात होना चाहिए कि यह काव्य नायिकाप्रधान है, नायकप्रधान नहीं।'[2]

इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि पहले रचित नायकप्रधान काव्य में नायिका जिस प्रकार नायिकोचित गुणों से युक्त नहीं दिखाई जाती थी उसी प्रकार कामायनी के (नायिकाप्रधान काव्य होने के कारण) नायक में नायकोचित गुणों की अपेक्षा नहीं थी और वही कवि ने किया। ऐसे लचर तर्कों के लिये क्या कहा जाय! फिर आगे कथन है--

'इसमें कथा-संकोच के कारण चरित्रों का चित्रण अवश्य ही विस्तार से नहीं हुआ परंतु उसमें संदिग्धता एवं त्रुटि कहीं भी नहीं है।'

पहले लेखक कह आया है कि मनु में 'नायक के अनुकूल' (नायकोचित) गुण नहीं हैं, फिर वह साफ कह जाता है चरित्रों के चित्रण में 'संदिग्धता एवं त्रुटि' है ही नहीं। इसे ही वदतोव्याघात कहते हैं। हिंदीसाहित्य में पहले भी

१. कामायनी चिंतन, पृ० १४५।
२. वही, पृ० १४६।

सूफियों द्वारा नायिकाप्रधान काव्य रचे गए हैं, पद्मावती, मृगावती, इंद्रावती, चित्रावली, मधुमालती आदि, किंतु नायक इतने दुर्बल चरित्र का किसी में नहीं मिलता।

रसविवेचन

कामायनी में रसों की स्थिति का विवेचन करते हुए विप्रलंभशृंगार के प्रसंग में लेखक महोदय मनु के चले जाने पर विरहिणीश्रद्धा में—दस कामदशाओं में से स्मृति, गुणकथन, संप्रलाप और व्याधि—चार कामदशाओं को ढूँढ़कर सामने रखते हैं। उन्हें इतना तो विदित ही होना चाहिए था कि जिस साहित्यदर्पण से दस कामदशाओं का उल्लेख वे करने जा रहे हैं वे 'प्रवास' की 'स्मरदशाएँ' न होकर 'पूर्वराग' की कामदशाएँ हैं। 'प्रवास' की स्मरदशाओं की गणना साहित्यदर्पण के तृतीय परिच्छेद की २०५वीं और २०६ठी श्लोकसंख्या में हैं। आलोचक को अपनी आलोचना के आधार के प्रति तो विशेष सचेत होना चाहिए था।

'कामायनी का काव्यसौष्ठव' अध्याय में तो लेखक आत्मविस्मृत सा होकर आँखें मूँदे गुणानुवाद करता चला गया है। पहले वह कहता है 'कामायनी आधुनिक हिंदी का एक महाकाव्य है।'—फिर दूसरे ही अवतरण में कहता है, 'कामायनी आधुनिक हिंदी जगत का श्रेष्ठतम (?) काव्य है। अध्याय के अंत में भी यही बात दुहरा दी गई है। 'अभिव्यक्ति सौंदर्य' में आचार्य आनंद के 'व्यङ्क्तः' को लेखक ने व्यक्तः समझ लिया है और अर्थ भी वही किया है।[३] ध्वनि के अन्वेषण में कामायनी के प्रथम छंद में संयोग द्वारा व्यंग्यार्थ इस प्रकार दिखाया गया है—

'इसमें छाहँ या अर्थ 'छाया' भी है परंतु प्रलय-निशावश ज्योतिष्कों के अभाव में प्रकाशाभाव होने से छाया की सर्वथा अविद्यमानता होने के कारण 'आधार' अर्थ ही ग्राह्य है। इससे ध्वनित होता है कि शिला धराशायी थी न कि उत्थित। यह व्यंग्यार्थ लक्षणामूलक है। इसी प्रकार 'भीगे' का अभिप्राय 'प्रलय' जलसिक्त है परंतु देवध्वंस-प्रसूत विषण्णता के कारण शोकोद्भूत 'अश्रुओं से आर्द्र' अर्थ ही अधिक समुचित है।'[४]

जहाँ इस प्रकार लक्षणा और ध्वनि ढूँढ़ी जाय वहाँ उसके लिये कोई काव्यमर्मज्ञ क्या कहेगा! छंदों पर जब हम लेखक को विचार करते देखते हैं तब स्तंभित हो जाना पड़ता है उसका छंदोज्ञान देखकर। 'साधन करता सुर श्मशान' पंक्ति में उसे चौदह मात्राएँ दिखाई पड़ती हैं। एक ही छंद में उसने 'लावनी' और 'वीर' दोनों छंदों का समन्वय भी देख लिया है। वह कहता है—

३. वही, पृ० २५०।
४. वही, पृ० २५३।

'कहीं कहीं एक ही पद्य में इन दोनों छंदों (लावनी और वीर) को मिला दिया गया है, जैसे—

तरुण तपस्वी सा वह बैठा,
साधन करता सुर-श्मशान ;
नीचे प्रलय सिंधु लहरों का
होता था सकरुण अवसान ।

इसके प्रथम दो चरण 'लावनी' का एक पद हैं क्योंकि १६, १४ पर यति है और अग्रिम दोनों 'वीर' का क्योंकि १६, १५ पर यति है।'

कामायनी के छंदों का कितना परिपक्व ज्ञान लेखक को है, इसी से समझा जा सकता है !

अंत में लेखक ने प्रस्तुत काव्य में भाव और भाषा संबंधी कतिपय दोष भी गिनाए हैं। उसे अपने चिंतनक्रम में कहीं कहीं प्रसाद पर पश्चिमी साहित्य का प्रभाव भी दिखाई पड़ा है, जो उसकी निजी कल्पना ही प्रतीत होती है।

चिंतन की कुछ विशेषताएँ

१. लेखक ने मानव (मनुपुत्र) से क्षतविक्षत मनु का पुनर्मिलन करा दिया है, जब कि मनु की उपस्थिति में उसका जन्म भी नहीं हुआ था।[५]

२. मत्स्य पुराण में उल्लिखित 'याम' नामक देवजाति को उसने 'यामा' समझ लिया है जो संस्कृत श्लोक में याम का बहुवचनांत रूप है।[६]

३. भाषा पर तो लेखक का अद्भुत अधिकार दिखाई पड़ता है, जो कामायनी की भाषा के दोषवाले प्रकरण से विदित होता है। लेखक के भाषागत कतिपय शब्दप्रयोग द्रष्टव्य हैं—

(क) जेतात्व (पृ० ४४), प्रलय का पुंल्लिंग प्रयोग (पृ० ४४, ४५), षष्ठम (पृ० ४६), प्रकुत (पृ० १६८), कैलाश (अनेक स्थलों पर), श्रेष्ठतम (पृ० १८७), सिंधु-शैया (पृ० १६०), 'न्यून' शब्द का संख्याबोधक प्रयोग, जहाँ 'अल्प' होना चाहिए (पृ० १६३)।

(ख) अंगरेजी भाषा की अनुकृति पर 'एक' शब्द की निरर्थक भरमार सारी पुस्तक में है।

५. वही, पृ० ३३।
६. वही, पृ० ३१-३२।

(ग) 'यद्यपि' के साथ 'परंतु' का व्यवहार अद्भुत है (पृ० १२६ आदि)। इसी प्रकार 'यदि' के साथ 'तब' का, 'तो' का नहीं (देखें, पृ० ४२) ।

(घ) वासनाग्रस्त हृदय की द्रवता के प्रसंग में लेखक इस प्रकार की भाषा का व्यवहार करता है— इसमें अधर्य, वैकल्य, औत्कंठ्य एवं विस्मय आदि भावों की बड़ी सुंदर योजना हुई है (—पृ० १८८)

(ङ) किसी एक भाव को कोई दूसरा भाव समझ लिया गया है, जैसे मनु के क्षोभ एवं ईर्ष्या से गृहत्याग को निर्वेद स्थायिभाव के रूप में देखा गया है।

किसी भी कवि पर अनेकानेक समीक्षाग्रंथों का रचा जाना भाषाविशेष की समृद्धि का द्योतक होता है। कामायनी पर भी अनेक समीक्षाग्रंथों का होना प्रसन्नता की बात है, किंतु साहित्यशास्त्र एवं भाषाशास्त्र के सम्यक् अध्ययन के बिना जो समीक्षाएँ आएँगी वे साहित्य के गौरव को उन्नत न करके अवनत ही कर जायँगी।

—जालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

कल्पवृक्ष

लेखक—रवींद्रनाथ त्यागी ; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन लिमिटेड, दिल्ली —६; पृष्ठसंख्या ८०, डबल डिमाई; मूल्य ४) ।

कल्पवृक्ष श्री रवींद्रनाथ त्यागी की स्फुट कविताओं का संकलन है। भाषा साफ सुथरी है, व्यंजना में कहनाव है। अनेक कविताएँ कोई बिंब प्रस्तुत करती है —

योजन विस्तृत सिकता के तट
सोन कोक सी धूप
—बैठ गई फैला पंख—
चाँदी की मछली सी
शरद की गंगा को
चोंच में लिये

इसी प्रकार :

रात रात भर बादल बरसा रात रात भर हवा चली
रात रात भर शाखें टूटीं रात रात भर झरी कली

एक और छोटी कविता :

दिशाओं के वृक्षों पर फाल्गुन फूट पड़ा
बसंत के प्रकाश में
अपने दुःखों को देखता हूँ
जैसे रात के अँधेरे में
वन की लकड़ी जलाकर
सीता ने लवकुश का मुख
पहिली बार देखा था ।

इस प्रकार की छोटी कविताएँ अच्छी बन पड़ी हैं। बड़ी कविताएँ पूरी तौर पर उतनी अच्छी नहीं हो सकीं शायद उनके लिये जितना संयम और रचाव अपेक्षित था वह संभव नहीं हुआ।

—त्रिलोचन

आत्मजयी

लेखक—कुँवरनारायण—प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी—५, पृष्ठसंख्या १०८, आकार डबल डिमाई मूल्य ६)५०

श्री कुँवरनारायण ने भूमिका पृष्ठ ७ पर लिखा है, 'कठोपनिषद् से लिए गए नचिकेता के कथानक में मैंने थोड़ा परिवर्तन किया है, लेकिन इतना नहीं कि आधारकथा की वस्तुस्थिति ही भिन्न हो गई हो। मूल कथा को बिना अधिक बिगाड़े ही उसे एक आधुनिक ढंग से देखा गया है, पौराणिक दिव्य कथा के रूप में नहीं।'

भूमिका के पृ० ८ पर वे कहते हैं, 'आत्मजयी में ली गई समस्या नई नहीं उतनी ही पुरानी है (या फिर उतनी ही नई) जितना जीवन और मृत्यु संबंधी मनुष्य का अनुभव। इस अनुभव को पौराणिक संदर्भ में रखते समय यह चिंता बराबर रही कि कहीं हिंदी की रूढ़ आध्यात्मिक शब्दावली अनुभव की सचाई पर इस तरह न हावी हो जाय कि आत्मजयी को एक आधुनिक कृति के रूप में पहचानना ही कठिन हो।'

भूमिका पृ० ६ का एक और उद्धरण आवश्यक है, 'जीवन के पूर्णानुभव के लिये किसी ऐसे मूल्य के लिये जीना आवश्यक है जो जीवन की अनश्वरता का बोध कराए। यही उसको सांत्वना दे सकता है कि मर्त्य होते हुए भी मनुष्य किसी अमर अर्थ में जी सकता है।'

आत्मजयी का नचिकेता स्वचेतन है। उसके चिंतन, मनन, स्मरण, बोधन, विमर्षण की अंतःक्रियाओं का शब्दरूप ही यह काव्य है। इसमें नचिकेता के मानसिक व्यापार के लिये शेष सब कुछ आधारसामग्री के रूप में नियोजित है। 'चक्रव्यूह' और 'परिवेश : हम तुम' के बाद अपनी इस रचना में कुँवरनारायण उसी मनः स्थिति में एक और रचना देते हैं, जिस नचिकेता नाम के चारों ओर जीवन और मरण के घात-प्रतिघातों को स्वगत व्यंजना दी गई है। अवश्य भाषा में थोड़ा सा परिवर्तन है। भावों की संहति यथापूर्व है। कलासंबंधी आकलन पूर्व आधार पर दृढ़तर है 'पूर्ववर्ती कवियों की पदचाप जहाँ तहाँ स्पष्ट है, पर कुँवर-नारायण उत्तरोत्तर विकास की ओर जा रहे हैं।

—त्रिलोचन